आधुनिक कवि

२

सुमित्रानन्दन पन्त



शक १८८६ : १९६४ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

आधुनिक कवि : २

मेरे भैया! मेरे चन्दा! मेरे अनमोल रतन!
तेरे बदले मैं ज़माने की कोई चीज़ न लूँ।

[illegible]

आधुनिक कवि

२

श्रीसुमित्रानंदन पंत

•

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

पुस्तक-माला	देव पुरस्कार ग्रन्थावली : २
प्रकाशन वर्ष	शक १८८६ : सन् १९६४ ई०
संस्करण	ग्यारहवीं आवृत्ति : ५१०० प्रतियाँ
मूल्य	० ३.६५
प्रकाशक	गोपालचन्द्र सिंह सचिव, प्रथम शासन निकाय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
मुद्रक	राम प्रताप त्रिपाठी, शास्त्री सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

भूतपूर्व ओरछा राज्य प्राचीन काल से हिन्दी-साहित्य और कवियों का सम्मान करता आ रहा है। इस क्रम को वहाँ के अंतिम नरेश सवाई महेन्द्र सर वीरसिंहजी देव ने अक्षुण्ण रखा और संवत् १९९० वि० से प्रति वर्ष किसी हिन्दी कवि के सम्मानार्थ २०००) का पुरस्कार देना प्रारम्भ किया था। संवत् १९९४ में प्रतियोगिता के लिए आये हुए ग्रन्थों में से कोई रचना पुरस्कार योग्य नहीं समझी गई और इस कारण पुरस्कार प्रवन्धकर्त्री समिति, श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् ने, इस निधि में से १०००) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को 'देव पुरस्कार ग्रंथावली' के नाम से एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने के लिए प्रदान किया। इस दान के लिये सम्मेलन श्रीमान् ओरछा-नरेश तथा पुरस्कार प्रवन्धकर्त्री समिति का कृतज्ञ है।

तत्कालीन सम्मेलन की साहित्य-समिति ने यह निश्चय किया था कि इस ग्रंथावली में आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित किये जायँ। इस माला की विशेषता यह है कि प्रत्येक कवि स्वयं अपनी कविताओं का चयन करे और स्वयं ही अपनी कविता का दृष्टिकोण पाठकों के सामने उपस्थित करे। प्रत्येक संग्रह के साथ कवि की हस्तलिपि का नमूना और उसकी प्रतिकृति का पेंसिल का स्केच रहता है।

प्रस्तुत संग्रह इस माला का द्वितीय पुष्प है। आधुनिक काल के कवियों में श्री सुमित्रानन्दन पंत का एक विशेष स्थान है। प्रकृति की गोद में पले रहने के कारण उनकी कविताओं में उसके प्रति लोभ की स्पष्ट छाप मिलती

है। हिन्दी-साहित्य में पंतजी की कविताओं का अपना अलग व्यक्तित्व है तथा अपनी कला के भी वे एकमात्र प्रतिनिधि हैं। इस संग्रह के कवि की अपने काव्य के प्रति प्रकट की गई विचारधारा को पढ़ने के बाद पाठकों को कवि को समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

इस संस्करण में कवि ने आवश्यक परिवर्त्तन और परिवर्द्धन करके अपनी परिपक्व कवि-प्रतिभा से प्रसूत अनेक अभिनव काव्य-प्रसून संगृहीत किये हैं। परिवर्द्धित कविताएँ कवि की वर्तमान काव्यधारा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं।

इस दृष्टि से इस संस्करण की उपयोगिता और महत्ता पिछले संस्करणों की अपेक्षा अधिक गरीयसी हो गई है। फलतः पन्तजी के काव्य-रसिकों के लिए 'आधुनिक कवि' का यह नवीन संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रकाशक



लेखक

र्यालोचन

मैं अपने यत्किंचित् साहित्य-प्रयासों को आलोचक की दृष्टि से देखने के लिए उत्सुक नहीं था, किंतु हिन्दी साहित्य सम्मेलन की इच्छा मुझे विवश करती है कि मैं प्रस्तुत संग्रह में अपने बारे में स्वयं लिखूँ। संभव है, मैं अपने काव्य की आत्मा को, स्पष्ट और सम्यक् रूप से, पाठकों के सामने न रख सकूँ; पर, जो कुछ भी प्रकाश मैं उस पर डाल सकूँगा, मुझे आशा है, उससे मेरे दृष्टिकोण को समझने में मदद मिलेगी। पल्लव की भूमिका में, काव्य के बहिरंग पर, अपने विचार प्रकट करने के बाद यह प्रथम अवसर है कि मैं, अपने विकास की सीमाओं के भीतर से, काव्य के अंतरंग का विवेचन कर रहा हूँ। इस संक्षिप्त पर्यालोचन में जो कुछ भी त्रुटियाँ रह जायँ, उनके लिए सहृदय सुज्ञ पाठक क्षमा करें।

इस सौ-सवा सौ पृष्ठों के संग्रह में मेरी सभी संग्रहणीय कविताएँ अवश्य नहीं आ सकी हैं। पर जिन पथों का मेरी कल्पना ने अनुसरण किया है उन पर अंकित पद-चिह्नों का थोड़ा बहुत आभास इससे मिल सकता है; और, संभव है, अपने युग में प्रवाहित प्रमुख प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की अस्पष्ट रूप-रेखाएँ भी इसमें मिल जायँ। अस्तु—

कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन स पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकट देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्य सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब न मैं आँख मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँख सामने घूमा करता था। अब मैं सोचता हूँ कि क्षितिज में सुदूर तक प

एक के ऊपर एक उठीं, ये हरित नील धूमिल, कूर्माचल की छायांकित पर्वत श्रेणियाँ, जो अपने शिखरों पर रजत मुकुट हिमाचल को धारण किए हैं, और अपनी ऊँचाई से आकाश की अवाक् नीलिमा को और भी ऊपर उठाए हैं, किसी भी मनुष्य को अपने महान् नीरव संमोहन के आश्चर्य में डुबा कर, कुछ काल के लिए, भुला सकती हैं और यह शायद पर्वत प्रांत के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत ही की तरह, निश्चय रूप से, अवस्थित है। प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पना-जीवी बनाया, वहाँ दूसरी ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जनसमूह से अब भी मैं दूर भागता हूँ, और मेरे आलोचकों का यह कहना कुछ अंशों तक ठीक ही है कि मेरी कल्पना लोगों के सामने आने में लजाती है।

मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौन्दर्य का प्रेम किसी रूप में वर्तमान है।

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?—

आदि वीणा के चित्रण, प्रकृति के प्रति, मेरे अगाध मोह के साक्षी हैं। प्रकृति-निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता मिली है, कहीं उससे विचारों की भी प्रेरणा मिली है। प्राकृतिक चित्रणों [illegible] प्रायः मैंने अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिला कर उन्हें ऐन्द्रिय चित्रण [illegible]ाया है, कभी कभी भावनाओं को ही प्राकृतिक सौन्दर्य का लिबास पहना [illegible]ा है। यद्यपि 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'बादल', 'विश्ववेणु', 'एकतारा', [illegible]काविहार', 'पलाश', 'दो मित्र', 'झंझा में नीम', आदि अनेक रचनाओं [illegible]रे रूप-चित्रण के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

[illegible] प्रकृति को मैंने अपने से अलग, सजीव सत्ता रखने वाली, नारी के [illegible] देखा है।

'उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही, मा,
वह अपनी वय बाली में'—

पंक्तियाँ मेरी इस धारणा की पोषक हैं। कभी जब मैंने प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव किया है तब मैंने अपने को भी नारी रूप में अंकित किया है। मेरी प्रारंभिक रचनाओं में इस प्रकार के हिप्नोटिज्म के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

साधारणतः, प्रकृति के सुन्दर रूप ही ने मुझे अधिक लुभाया है, पर उसका उग्र रूप भी मैंने 'परिवर्तन' में चित्रित किया है। मानव-स्वभाव का भी मैंने सुन्दर ही पक्ष ग्रहण किया है, इसीसे मेरा मन वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना की ओर प्रभावित हुआ है। यह सत्य है कि प्रकृति का उग्र रूप मुझे कम रुचता है, यदि मैं संघर्षप्रिय अथवा निराशावादी होता तो 'Nature red in tooth and claw' वाला कठोर रूप, जो जीव विज्ञान का सत्य है, मुझे अपनी ओर अधिक खींचता। किंतु 'वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भूपर' इस 'कोमल मनुज कलेवर' को भविष्य में अधिक से अधिक 'मनुजोचित साधन' मिल सकेंगे, और वह अपने लिए ऐसा 'मानवता का प्रसाद' निर्माण कर सकेगा, जिसमें 'मनुष्य जीवन की क्षण धूलि' अधिक सुरक्षित रह सकेगी,—यह आशा मुझे अज्ञात रूप से सदैव आकर्षित करती रही है—

'मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर!
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?'

वीणा और पल्लव, विशेषतः, मेरे प्राकृतिक साहचर्य काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की महत्ता पर मुझे विश्वास था, और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय, मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति प्रेम के साथ ही मेरे

प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचारधारा का काफी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की हद तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मान कर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

'एक सौ वर्ष नगर उपवन,—एक सौ वर्ष विजन वन !
यही तो है असार संसार,—सृजन सिंचन, संहार !'—

आदि भावनाएँ मनुष्य को, अपने केन्द्र से च्युत करने के बाद, किसी सक्रिय सामूहिक प्रयोग के लिए अग्रसर नहीं करतीं, बल्कि उसे जीवन की क्षण-भंगुरता का उपदेश भर देकर रह जाती हैं। इस प्रकार की अभावात्मकता (निगेटिविज्म) के मूल हमारी संस्कृति में मध्ययुग से भी गहरे घुसे हुए हैं, जिसके कारण, जातीय दृष्टि से, हम अपने स्वाभाविक आत्म-रक्षण के संस्कारों (सेल्फ़ प्रिज़र्वेटिव इंस्टिक्ट्स) को खो बैठे हैं, और अपने प्रति किए गए अत्याचारों को थोथी दार्शनिकता का रूप देकर, चुपचाप, सहन करना सीख गए हैं। साथ ही हमारा विश्वास मनुष्य की संगठित शक्ति से हट कर आकाश कुसुमवत् दैवी शक्ति पर अटक गया है, जिसके फल-स्वरूप हम देश पर विपत्ति के युगों में सीढ़ी दर सीढ़ी नीचे गिरते गए हैं।

पल्लव और गुंजन काल के बीच में मेरा किशोर भावना का सौन्दर्य स्वप्न टूट गया। पल्लव की 'परिवर्तन' कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे इस मानसिक परिवर्त्तन की भी द्योतक है। इसीलिए वह पल्लव में अपना विशेष व्यक्तित्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीव जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर।

'खोलता इधर जन्म लोचन,
मुँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण !'
'वही मधुऋतु की गुंजित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,——जीवन है भार !'

मेरा जीव दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के वुद्‌बुदों के व्याकुल संसार में परिवर्त्तन ही एकमात्र चिरंतन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आकांक्षाएँ और सुख-स्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरंतन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिए, लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की आकुलता में, ऊबडूब करने लगे।

किन्तु दर्शन का अध्ययन, विश्लेषण की पैनी धार से जहाँ जीवन के नाम रूप गुण के छिलके उतार कर मन को शून्य की परिधि में भटकाता है वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसी सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनन्द से मुग्ध और विस्मित कर देती है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।

'जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन,
बरसो लघु लघु तृण तरु पर हे चिर अव्यय चिर नूतन !'—

इसी सविशेष की कल्पना के सहारे, जिसने 'ज्योत्स्ना' को और गुंजन की 'अप्सरा' को जन्म दिया है, मैं पल्लव से गुंजन में अपने को सुन्दरम् से शिवम् की भूमि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ। गुंजन में मेरी बहिर्मुखी प्रकृति, सुख दुःख में समत्व स्थापित कर अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है; साथ ही गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी कल्पना अधिक सूक्ष्म एवं भावा-

त्मक हो गई है। गुंजन के भाषा संगीत में एक सुघरता, मधुरता और श्लक्षणता आ गई है जो पल्लव में नहीं मिलती। गुंजन के संगीत में एकता है पल्लव के स्वरों में बहुलता। पल्लव की भाषा दृश्य जगत् के रूप रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है, गुंजन की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंजित। ज्योत्स्ना का वातावरण भी सूक्ष्म की कल्पना से ओतप्रोत है, उसका सांस्कृतिक समन्वय सर्वातिशयता (ट्रेन्सेन्डेन्टलिज़्म) के आलोक (दर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुन्दरम् और शिवम् से भी बड़े लक्ष्य सत्यम् का बोध नहीं होता है, साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती, जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख दुःख के सत्य को अथवा अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। गुंजन में 'तप रे मधुर मधुर मन', 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि की द्योतक हैं। मुझे लगता है कि शिव में सत्य स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप रंग हैं, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों ही द्वारा होती है, उसी प्रकार सुंदरम् की परिणति शिवम् में सत्य ही द्वारा हो सकती है। यदि कोई वस्तु उपयोगी (शिव) है तो उसके आधारभूत कारण उस उपयोगिता से संबंध रखने वाले सत्य में अवश्य होने चाहिएँ, नहीं तो वह उपयोगी नहीं हो सकता। इसी तरह अनुभूति की तीव्रता भी सापेक्ष है, और मेरी रचनाओं में उसका संबंध मेरे स्वभाव से है। सत्य के दोनों रूप हैं,—शराबी शराब पीता है यह सत्य है; उसे शराब नहीं पीना चाहिए, यह भी सत्य है। एक उसका वास्तविक (फैक्चुअल) रूप है, दूसरा परिणाम से संबंध रखने वाला। मेरी रचनाओं में सत्य के दूसरे पक्ष के प्रति मोह मिलता है; वह मेरा संस्कार है, आत्मविकास (सब्लिमेशन) की ओर जाना। अनुभूति की तीव्रता का बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करवा सकता है,

मंगल का बोध अंतर्मुखी स्वभाव (इंट्रोवर्ट)। क्योंकि दूसरा कारण रूप अंतर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त न कर उसके फलस्वरूप कल्याणमयी अनुभूति को वाणी देता है। "मेरे पल्लव काल की रचनाओं में, तुलनात्मक दृष्टि से, मानसिक संघर्ष और हार्दिकता अधिक मिलती है, और बाद की रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा।"

यदि मेरा हृदय अपने युग में बरते जाने वाले आदर्शों के प्रति विश्वास न खो बैठता तो मेरी आगे की रचनाओं में भी हार्दिकता पर्याप्त मात्रा में मिलती। जब वस्तुजगत् के जीवन से हृदय को भोजन अथवा भावना को उद्दीप्ति नहीं मिलती तब हृदय का सूनापन बुद्धि के पास, सहायता माँगने के लिए पुकार भेजता है।

'आते कैसे सूने पल, जीवन में ये सूने पल,

. . . .

'खो देती उर की वीणा झंकार मधुर जीवन की'—

आदि उद्गार गुंजन में आए हैं। ऐसी अवस्था में मेरा हृदय वर्तमान जीवन के प्रति घृणा या विद्वेष की भावना प्रकट कर सकता, और मैं संदेहवादी या निराशावादी बन सकता था। पर मेरे स्वभाव ने मुझे रोका और मैंने इस बाह्य निश्चेष्टता और सूनेपन के कारणों को बुद्धि में सुलझाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मेरी आगे की रचनाएँ भावनात्मक न रह कर बौद्धिक बनती गईं, या मेरी भावना का मुख प्रकाशवान् हो गया? ज्योत्स्ना में मेरी भावना और बुद्धि के आवेश का मिश्रित चित्रण मिलता है।

जब तक रूप का विश्व मेरे हृदय को आकर्षित करता रहा, जो कि एक किशोर प्रवृत्ति है, मेरी रचनाओं में ऐन्द्रिय चित्रणों की कमी नहीं रही। प्राकृतिक अनुराग की भावना क्रमशः सौन्दर्यप्रधान से भावप्रधान और भाव-प्रधान से ज्ञानप्रधान होती जाती है। बौद्धिकता हार्दिकता ही का दूसरा रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती। परिवर्तन में भी मैंने यही बात कही है—

'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप, लोकसेवा में शिव अविकार।'

गुंजन से पहले—जब कि मैं परिस्थितियों के वश अपनी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने के लिए बाध्य नहीं हुआ था—मेरे जीवन का समस्त मानसिक संघर्ष और अनुभूति की तीव्रता 'ग्रंथि' और 'परिवर्तन' में प्रकट हुई। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, तब मैं प्राकृतिक दर्शन (नैच्युरेलिस्टिक फ़िलासफ़ी) से अधिक प्रभावित था और मानवजाति के ऐतिहासिक संघर्ष के सत्य से अपरिचित था। दर्शन मनुष्य के वैयक्तिक संघर्ष का इतिहास है, विज्ञान सामूहिक संघर्ष का।

'मानव जीवन प्रकृति संचलन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर जन ने की विश्व सभ्यता स्थापित'—

जीवन की इस ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार हम संसार में लोकोत्तर मानवता का निर्माण करने के अधिकारी हैं।

अचिर विश्व में अखिल,—दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरंतन, अहे विवर्तन हीन विवर्तन!'—

जीवन की इस प्राकृतिक व्याख्या के अनुसार हमें प्रकृति के नियमों की परिपूर्णता एवं सर्वशक्तिमत्ता के सम्मुख मस्तक नवाने ही में शांति मिल सकती है।

गुंजन और ज्योत्सना में मेरी सौन्दर्यकल्पना क्रमशः आत्मकल्याण और विश्वमंगल की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए उपादान की तरह प्रयुक्त हुई है।

'प्राप्त नहीं मानव जग को यह मर्मोज्वल उल्लास'

या

'कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख'

अथवा

'प्रकृति धाम यह : तृण तृण कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन-मृत !'—

आदि बाद की रचनाओं में मेरे हृदय का आकर्षण मानवजगत की ओर अधिक प्रकट होता है। ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिय हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैंने 'युगांत' में लिखा है,—

'वह एक असीम अखंड विश्व व्यापकता
खो गई तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता !'

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मैं, खंड-खंड रूप में, संसार को, जग जीवन को समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्य साधना का दूसरा युग आरंभ होता है। जीवन के प्रति एक अंतर्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और दिशाभ्रम के क्षणों में प्रकाश स्तम्भ का काम देने लगा। जैसा कि मैंने 'युगांत' में भी लिखा है,—

'..........जीवन लोकोत्तर
बढ़ती लहर, बुद्धि से दुस्तर;
पार करो विश्वास चरण धर !'

अब मैं मानता हूँ कि भावना और बुद्धि से, संश्लेषण और विश्लेषण से, हम एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं।

पल्लव से गुंजन तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं, और वे अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौन्दर्य को पुष्ट करने वाले रहे हैं। बाद की रचनाओं में भाषा के अधिक गर्भित (ऐब्स्ट्रेक्ट) हो जाने के कारण मेरी अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गई है।

'नयन नीलिमा के लघु नभ में किस नव सुषमा का संसार
विरल इन्द्रधनुषी बादल सा बदल रहा है अपार ?'

की अलंकृत भाषा जिस प्रकार 'स्वप्न' का रूप चित्र सामने रखती है उसी प्रकार गीत-गद्य 'युगवाणी' की 'युग उपकरण' 'नव संस्कृति' आदि रचनाएँ मनोरम विचार चित्र उपस्थित करती हैं। 'पुण्यप्रसू', 'घननाद', "रूपसत्य', 'जीवनस्पर्श' आदि रचनाओं में भी विषयानुकूल अलंकारिता का अभाव नहीं है। यदि यह मेरा सृजन आवेश मात्र नहीं है तो युगवाणी और ग्राम्या में मेरी कल्पना, ऊर्णनाभ की तरह, 'सूक्ष्म अमर अंतरजीवन का' मधुर वितान तान कर, देश और काल के छोरों को मिलाने में संलग्न रही है। इस ह्रास और विघटन के युग के स्वल्पप्राण लेखककी सृजन-शील कल्पना अधिकतर जीवन के नवीन मानों की खोज ही में व्यय हो जाती है, उसका कलाकार स्वभावतः पीछे पड़ जाता है; अतएव उससे अधिक कला नैपुण्य की आशा भी नहीं रखनी चाहिए।

युगवाणी का 'रूप पूजन' समाज के भावी रूप का पूजन है। अभी जो वास्तव में अरूप है उसके कल्पनात्मक रूप चित्र को स्वभावतः अलंकृत होना चाहिए। युगवाणी में कहा भी है,—

'बन गए कलात्मक भाव जगत के रूप नाम'
'सुंदर शिव सत्य कला के कल्पित माप-मान
बन गए स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।'

'जगत के रूप नाम' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक संबंधों से निर्मित भविष्य के मानव-संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। युगवाणी में यह बात कई तरह व्यक्त की गई है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है। 'रूप रूप बन जायँ भाव स्वर, चित्र गीत झंकार मनोहर' द्वारा भविष्य के अरूप सौन्दर्य का, रूप के पाश में बँधने के लिए, आवाहन किया गया है।

प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं। क्योंकि उनका रूप चित्र अभी सद्यः होता है और उनके रस का स्वाद नवीन। 'मधुरता मृदुता सी तुम प्राण, न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात' उनके लिए भी चरितार्थ होता है। इसी से उनकी अभिव्यंजना से अधिक उनका भावतत्व काव्यगौरव रखता है।

'तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार'

से भी मेरा यही अभिप्राय है कि संक्रांतियुग की वाणी के विचार ही उसके अलंकार हैं। जिन विचारों की उपयोगिता नष्ट हो गई है, जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खिसक गई है, वे पथराए हुए मृत विचार भाषा को बोझिल बनाते हैं। नवीन विचार और भावनाएँ, जो हृदय की रस-पिपासा को मिटाते हैं, उड़ने वाले प्राणियों की तरह, स्वयं हृदय में घर कर लेते हैं। आने वाले काव्य की भाषा अपने नवीन आदर्शों के प्राणतत्व से रसमयी होगी, नवीन विचारों के ऐश्वर्य से सालंकार, और जीवन के प्रति नवीन अनुराग की दृष्टि से सौन्दर्यमयी होगी। इस प्रकार काव्य के अलंकार विकसित और सांकेतिक हो जाएँगे।

छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था, और उसका भाव शरीर द्विवेदी युग के काव्य की परंपरागत सामाजिकता से पृथक् हो गया था। किंतु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका

था। उसमें व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का भावना वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'हास-अश्रु आशाऽकांक्षा' 'खाद्य मधु पानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सबजेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आभरण मात्र रह गया। दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले, हिन्दी कविता, छायावाद के रूप में ह्रासयुग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं संबंधी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगीं, और व्यक्तिगत जीवन संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर, भीतर बाहर में, दुख सुख में, आशा निराशा, और संयोग वियोग के द्वन्द्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।

महायुद्ध के बाद की अंग्रेजी कविता भी अतिवैयक्तिकता, बौद्धिकता, दुरूहता, संघर्ष, अवसाद, निराशा आदि से भरी हुई है। वह भी उन्नीसवीं सदी के कवियों के भाव और सौन्दर्य के वातावरण से कट कर अलग हो गई है। किंतु उसकी करुणा और क्षोभ की प्रतिक्रियाएँ व्यक्तिगत असंतोष के संबंध में न रख कर वर्ग एवं सामाजिक जीवन की परिस्थितियों से संबंध रखती हैं। वह वैयक्तिक स्वर्ग की कल्पना से प्रेरित न होकर सामाजिक पुनर्निर्माण की भावना से अनुप्राणित है। उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध इंगलैंड में मध्यवर्गीय संस्कृति का चरमोन्नत युग रहा है, महायुद्ध के बाद उसमें विघटन के चिह्न प्रकट होने लगे। छायावाद और युद्धोत्तरकालीन अंग्रेजी कविता, दोनों भिन्न-भिन्न रूप से, इस संक्रांतियुग के स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियाँ हैं।

पल्लव काल में मैं उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी कवियों—मुख्यतः शेली, वर्डस्वर्थ, कीट्स, और टेनिसन—से विशेष रूप से प्रभावित रहा हूँ,

क्योंकि इन कवियों ने मुझे मशीनयुग का सौन्दर्यबोध और मध्यवर्गीय संस्कृति का जीवन स्वप्न दिया है। रवि बाबू ने भी भारत की आत्मा को पश्चिम की, मशीन युग की, सौन्दर्य कल्पना ही में परिधानित किया है। पूर्व और पश्चिम का मेल उनके युग का स्लोगन भी रहा है। इस प्रकार मैं कवीन्द्र की प्रतिभा के गहरे प्रभाव को भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता हूँ। और यदि लिखना एक unconscious-conscious process है, तो मेरे उपचेतन ने इन कवियों की निधियों का यत्रतत्र उपयोग भी किया है, और उसे अपने विकास का अंग बनाने की चेष्टा की है।

ऊपर मैं एक अखंड भावना की व्यापकता को खो बैठने की बात लिख चुका हूँ। अब मैं जानता हूँ कि वह केवल सामंत युग की सांस्कृतिक भावना थी जिसे मैंने खोया था, और उसके विनाश के कारण मेरे भीतर नहीं बल्कि बाहर के जगत में थे। इस बात को ग्राम्या में मैं निश्चयपूर्वक लिख सका हूँ—

'गत संस्कृतियों का आदर्शों का था नियत पराभव
वृद्ध विश्व सामन्तकाल का था केवल जड़ खँडहर!'

'युगांत' के 'बापू' ('बापू के प्रति') सामंत युग के सूक्ष्म के प्रतीक हैं, 'ग्राम्या' के 'महात्मा' ('महात्मा जी के प्रति' में) ऐतिहासिक स्थूल के सम्मुख 'विजित नर वरेण्य' हो गए हैं, जो वर्तमान युग की पराजय है।

'हे भारत के हृदय, तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर!'

भावी सांस्कृतिक क्रांति की ओर संकेत करता है।

हम सुधार और जागरण काल में पैदा हुए, किन्तु युग प्रगति से बाध्य होकर, हमें संक्रान्ति युग की विचारधारा का वाहक बनना पड़ा है। अपने जीवन में हम अपने ही देश में कई प्रकार के सुधार और जागरण के प्रयत्नों को देख चुके हैं। उदाहरणार्थ, स्वामी दयानन्द जी सुधारवादी थे जिन्होंने

मध्ययुग की संकीर्ण रूढ़ि रीतियों के बंधनों से इन जातियों और संप्रदायों में विभक्त हिन्दू धर्म का उद्धार करने की चेष्टा की। श्री परमहंस देव और स्वामी विवेकानन्द का युग भारतीय दर्शन के जागरण का युग रहा है। उन्होंने मनुष्य जाति के कल्याण के लिए धार्मिक समन्वय करने का प्रयत्न किया। डा० रवीन्द्रनाथ का युग विश्वव्यापी सांस्कृतिक समन्वय पर जोर देता रहा है।

'युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर'

कवीन्द्र की प्रतिभा के लिए भी लागू होता है। वह एक स्थान पर अपने बारे में लिखते भी हैं,—"मैं समझ गया कि मुझे इस विभिन्नता में व्याप्त एकता के सत्य का संदेश देना है।" डा० टैगोर के जीवन-मान भारतीय दर्शन के साथ ही मानव शास्त्र (एंथ्रोपोलाजी), विश्ववाद और अंतर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए हैं। उनके युग का प्रयत्न भिन्न भिन्न देशों और जातियों की संस्कृतियों के मौलिक सारभाग से मानव जाति के लिए विश्व संस्कृति का पुनर्निर्माण करने की ओर रहा है। वैज्ञानिक आविष्कारों से मनुष्य की देश काल जनित धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित हो जाने के कारण एवं आवागमन की सुविधाओं से भिन्न-भिन्न देशों और जातियों के मनुष्यों में परस्पर का संपर्क बढ़ जाने के कारण उस युग के विचारकों का मानव-जाति के आंतरिक (सांस्कृतिक) एकीकरण करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही था। महात्मा जी भी, इसी प्रकार, विकसित व्यक्तिवाद के मानों का पुनर्जागरण कर, भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के बीच, संसार में, सामंजस्य स्थापित करना चाहते हैं। किन्तु इस प्रकार के एकदेशीय, एकजातीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न भी, इस युग में, तभी सफल हो सकते हैं जब उनको परिचालित करने वाले सिद्धांतों के मूल विकासशील ऐतिहासिक सत्य में हों।

'विश्व सभ्यता का होना था नखसिख नव रूपांतर,
रामराज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल!'

आनेवाला युग जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्त्तन लाना चाहता है। वह सामंत युग के सगुण (सांस्कृतिक मन) से मानव चेतना को मुक्त कर, मनुष्य के मौलिक संस्कारों का यंत्रयुग की विकसित परिस्थितियों और सुविधाओं के अनुरूप नवीन रूप से मूल्यांकन करना चाहता है। वह मानव संस्कृति को एक सामूहिक विकास प्रवाह मानता है। 'प्रस्तर युग की जीर्ण सभ्यता मरणासन्न, समापन' से इसी प्रकार के युग परिवर्त्तन की सूचना मिलती है। दूसरे शब्दों में, आने वाला युग मनुष्य समाज का वैज्ञानिक ढंग से पुनर्निर्माण करना चाहता है। ज्ञान को सदैव विज्ञान ने वास्तविकता प्रदान की है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान भी मानव जाति की नवीन जीवन कल्पना को पृथ्वी पर अवतरित करने के प्रयत्न में संलग्न हैं। जिस संक्रांतिकाल से मानव सभ्यता गुजर रही है उसके परिणाम के हेतु आशावादी बने रहने के लिए विज्ञान ही हमारे पास अमोघ शक्ति और साधन है। इस विश्वव्यापी युद्ध के रूप में, जैसे, विज्ञान, भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों और स्वार्थों में विभक्त 'आदिम मानव' ('आदिम मानव करता अब भी जन में निवास') का संहार कर रहा है। वह भविष्य में नवीन मानव के लिए लोकोपयोगी समाज का भी निर्माण कर सकेगा। ग्राम्या में १९४० सन् को संबोधन करते हुए मैंने लिखा है—

'आओ हे दुर्धर्ष वर्ष, लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान् विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन!'

सभ्यता के इतिहास में और भी कई युग बदले हैं और उन्हीं के अनुरूप मनुष्य की आध्यात्मिक धारणा अपने अंतर और बहिर्जगत के संबंध में परिवर्तित हुई है।

'पशु युग में थे गण देवों के पूजित पशुपति,
थी रुद्रचरों से कुंठित कृषि युग की उन्नति।

श्री राम रुद्र की शिव में कर जनहित परिणति
जीवित कर गए अहल्या को, थे सीता-पति।'

श्री राम, इस दृष्टि से, अपने देश में कृषि क्रांति के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं, जिन्होंने कृषि जीवन की मान मर्यादाएँ निर्धारित कीं। स्थिर एवं सुव्यवस्थित कृषि जीवन की व्यवस्था पशु-जीवियों की कष्टसाध्य अस्थिर जीवनचर्या से श्रेष्ठ और लोकोपयोगी प्रमाणित हुई। एक स्त्री-पुरुष का सदाचार कृषि संस्कृति ही की देन है। कृष्ण का युग कृषि जीवन के विभव का युग रहा है। भारतवर्ष जैसे विशाल, उर्वर और सम्पन्न देश की सामन्तकालीन सभ्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष के युग में संसार को जो कुछ दे सकती थी,—उसका समस्त वैभव, बहुमूल्य उपादान, उसकी अपार गौरव गरिमा, ऋद्धि सिद्धि, दृष्टि चकित कर देने वाले रूप रंग—उस युग की विशद भावना, बुद्धि, कल्पना, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, रहस्य, ईश्वरत्व—उसके समस्त भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपकरणों को जोड़ कर, जैसे, उस युग की चरमोन्नति का प्रतीक स्वरूप, श्रीकृष्ण की प्रतिमा निर्माण की गई है। इससे परिपूर्ण रूप अथवा प्रतीक सामंत युग की संस्कृति का और हो भी नहीं सकता था। और कृषि संपन्न भारत के सिवा कोई दूसरा देश, शायद, उसे दे भी नहीं सकता था।

मर्यादा पुरुषोत्तम के स्वरूप में कृषि-जीवन के आचार-विचार, रीतिनीति संबंधी सात्त्विक चाँदी के तारों से बुने हुए भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य पट में विभवमूर्ति कृष्ण ने सोने का सुन्दर काम कर उसे रत्न-जड़ित राजसी बेलबूटों से अलंकृत कर दिया। कृष्ण युग की नारी भी हमारी विभव युग की नारी है। वह 'मनसा, वाचा कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नहीं,—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन वंशीध्वनि पर मुग्ध हो जाता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामंत युग की नैतिकता के तंग अहाते के भीतर, श्रीकृष्ण ने, विभव युग के नर नारियों के सदाचार में भी, क्रांति उपस्थित की है। श्रीकृष्ण की गोपियाँ,

अभ्युदय के युग में, फिर से गोप संस्कृति का लिबास पहनती हुई दिखाई देती हैं।

भारतीय संस्कृति का जो स्वरूप हमें मध्ययुग में देखने को मिलता है वह श्री तुलसी रामायण में सुरक्षित है। तुलसी ने 'कृषि-मन युग अनुरूप किया निर्मित।' देश की पराधीनता और ह्रास के युग में संस्कृति के संरक्षण के लिए प्रयत्न शुरू हुए। अन्य संस्कृतियों से ग्रहण कर सकने की उसकी प्राणशक्ति मन्द पड़ गई, और भारतीय संस्कृति का गतिशील जीवन-द्रव जातियों, संप्रदायों, संघों, मतों, रूढ़ि रीति नीतियों और परंपरागत विश्वासों के रूप में जम कर कठोर एवं निर्जीव हो गया। आर्थिक और राजनीतिक पराभव के कारण, जनसाधारण में देह की अनित्यता, जीवन का मिथ्यापन, संसार की असारता, मायावाद, प्रारब्धवाद, वैराग्य भावना आदि, ह्रासयुग के अभावात्मक विचारों और आदर्शों का प्रचार बढ़ने लगा। जिस प्रकार कृषि युग ने पशुजीवी युग के मनुष्य की अंतर्बाह्य चेतना में प्रकारांतर उपस्थित कर दिया उसी प्रकार यंत्र का आगमन सामंत युग की परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन लाने की सूचना देता है। सामंत युग में भी, समय समय पर, छोटी बड़ी विश्लिष्ट युग की गण संस्कृतियों का समन्वय हुआ है, तथा सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्रांतियाँ हुई हैं, किन्तु उन सब के नैतिक मानों और आदर्शों को सामन्तयुग की परिस्थितियों ही ने प्रभावित किया है। भविष्य में इस प्रकार के सभी प्रयत्नों से संबंध रखने वाले मौलिक सिद्धांतों और मानों को यंत्र युग की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ निर्धारित करेंगी।

यन्त्र युग के दर्शन को हम ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं जो उन्नीसवीं सदी के संकीर्ण भौतिकवाद से पृथक् है। नवीन भौतिकवाद दर्शन और विज्ञान का, मानव सभ्यता के अंतर्बाह्य विकास का, ऐतिहासिक समन्वय है।

'दर्शन युग का अंत, अंत विज्ञानों का संघर्षण,
अब दर्शन-विज्ञान सत्य करता नव्य निरूपण।'

वह मनुष्य के सामाजिक जीवन विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। सामाजिक प्रगति के दर्शन के साथ ही वह उसे सामूहिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य नवीन तंत्र (स्टेट) का भी विधायक है।

'विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले, कर गत सभ्यता समापन।
सामाजिक सम्बन्ध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,
नव विचार, नव रीति नीति, नव नियम, भाव, नव दर्शन।'

इतिहास विज्ञान के अनुसार जैसे जैसे जीवनोपाय के साधन स्वरूप हथियारों और यंत्रों का विकास हुआ है मनुष्य जाति के रहन-सहन और सामाजिक विधान में भी युगांतर हुआ है। नवीन आर्थिक व्यवस्था के आधार पर नवीन राजनीतिक प्रणालियाँ और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हुए हैं और उन्हीं के प्रतिरूप रीति नीतियों, विचारों एवं सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ है। साथ ही उत्पादन के नवीन यंत्रों पर जिस वर्ग विशेष का अधिकार रहा है, उसके हाथ जनसाधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है। पूँजीवादी युग ने संसार को जो 'विविध ज्ञान विज्ञान, कला यंत्रों का अद्भुत कौशल' दिया है, उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूँजीवादी प्रथा ही है, जिसकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नष्ट हो गई है। आज, जब कि संसार में इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध हो रहा है, और जिसके बाद पूँजीवादी साम्राज्यवाद का—जिसका हिंस्र रूप फ़ासिज्म है—शायद, अंत भी हो जाय, इस प्रथा के विरोधों का विवेचन करना पिष्टपेषण के समान है। जहाँ मनुष्य स्वभाव की सीमाएँ, एक ओर, वर्ग संघर्ष एवं राजनीतिक युद्धों के रूप में, मानव जाति का रक्तपात कर उग्र प्रयोग कर रही हैं, दूसरी ओर मनुष्य की विकासप्रिय प्रकृति समयानुकूल उपयुक्त दर्शन साहित्य एवं विचारों का प्रचार कर, नवीन मानवता का वातावरण पैदा करने के लिए,

सांस्कृतिक प्रयोग भी कर रही है। भले ही इस समय उसकी देन अत्यंत स्वल्प हो और अंधकार ही प्रकाश की प्रवृत्तियों पर कुछ समय के लिए विजयी हो रहा हो, किंतु एक कलाकार और स्वप्न स्रष्टा के नाते मैं दूसरे प्रकार की—सांस्कृतिक अभ्युदय की—शक्तियों को बढ़ाने का पक्षपाती हूँ।

'राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख'

. . . .

'आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित।'

यंत्रों का पक्ष भी मैंने इसीलिए ग्रहण किया है कि वे मानव समूह की सांस्कृतिक चेतना के विकास में सहायक हुए हैं।

'जड़ नहीं यंत्र, वे भाव रूप : संस्कृति द्योतक।

. . . .

वे कृत्रिम निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित।

. . . .

दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यंत्र जड़ मानव कृत,
वे हैं अमूर्त : जीवन विकास की कृति निश्चित!'

मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसकी वस्तु-परिस्थितियों से निर्मित सामाजिक संबंधों का प्रतिबिम्ब है। यदि हम बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकें तो हमारी आंतरिक धारणाएँ भी उसी के अनुरूप बदल जाएँगी।

'कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण
भौतिक भव ही एकमात्र मानव का अंतर दर्पण।
स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अंतर परिवर्तन।'

जब हम कहते हैं कि आने वाला युग आमूल परिवर्तन चाहता है तो वह अंतर्बहिर्मुखी दोनों प्रकार का होगा। सामंत युग की परिस्थितियों की

सीमाओं के भीतर व्यक्ति का विकास जिस सापेक्ष पूर्णता तक पहुँच सका अथवा उस युग के सामूहिक विकास की पूर्णता व्यक्ति की चेतना में जिन विशिष्ट गुणों में प्रतिफलित हुई सामंत काल के दर्शन ने व्यक्ति के स्वरूप को उसी तरह निर्धारित किया है। यंत्र युग के सामूहिक विकास की पूर्णता उस धारणा में मौलिक (प्रकार का) परिवर्तन उपस्थित कर सकेगी।

प्रकृति और विवेक की तरह मनुष्य स्वभाव के बारे में भी कोई निश्चयात्मक (पाज़िटिव) धारणा नहीं बनाई जा सकती। मनुष्य एक विवेकशील पशु है कहना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना उसके मौलिक संस्कारों के संबंध में वस्तु-जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित होती है, वे परिस्थितियाँ ऐतिहासिक दिशा में विकसित होती रहती हैं। मनुष्य के मौलिक संस्कारों का देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार जो मान निर्धारित हो जाता है, अथवा उनके उपयोग के लिए जो सामाजिक प्रणालियाँ बँध जाती हैं, उनका वही व्यावहारिक रूप संस्कृति से संबद्ध है।

हम आने वाले युग के लिए 'स्थूल' को (यंत्रयुग की विकसित ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रतीक को) इसलिए 'सूक्ष्म' (भावी सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) मानते हैं कि हमारे विगत सांस्कृतिक सूक्ष्म की पृष्ठभूमि विकसित व्यक्तिवाद के तत्वों से बनी है, और हम जिस स्थूल को कल का 'शिव सुन्दर सत्य' मानते हैं वह स्थूल प्रतीक है सामूहिक विकासवाद का।

'स्थूल युग का शिव सुन्दर सत्य, स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण!' सामंत युग में जिस प्रकार समाजिक रहन-सहन और शिष्टाचार का सत्य राजा से प्रजा की ओर प्रवाहित हुआ है उसी प्रकार नैतिक सदाचार और आदर्श उस युग के सगुण की दिशा में विकसित व्यक्ति से जन-साधारण की ओर। आज के व्यक्ति की प्रगति सामूहिक विकासवाद की दिशा को होनी चाहिए न कि सामंत युग के लिए उपयोगी विकसित व्यक्तिवाद की दिशा को। 'तब वर्ग व्यक्ति गुण, जनसमूह गुण अब विकसित',—

सामंत युग का नैतिक दृष्टिकोण, उस युग की परिस्थितियों के कारण, तथोक्त उच्च वर्ग के गुण (क्वालिटी) से प्रभावित था।

आने वाला युग सामंत युग की नैतिकता के पाश से मनुष्य को बहुत कुछ अंशों में मुक्त कर सकेगा। और उसका 'पशु' (मौलिक संस्कारों संबंधी सामंतकालीन नैतिक मान), विकसित वस्तु-परिस्थितियों के फल-स्वरूप आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन से, बहुत कुछ अंशों में 'देव' (सांस्कृतिक मानों का प्रतीक) बन सकेगा।

'नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन यापन कर न सके जन इच्छित।

. . . .

देव और पशु भावों में जो सीमित
युग युग में होते परिवर्तित, अवसित।'

भावी सामाजिक सदाचार मनुष्य के मौलिक संस्कारों के लिए अधिक विकसित सामाजिक संबंध स्थापित कर सकेगा।

'अति मानवीय था निश्चय विकसित व्यक्तिवाद,
मनुजों में जिसने भरा देव पशु का प्रमाद'

और

'मानव स्वभाव ही बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण, असुंदर को सुंदर'——

आदि विचार मनुष्य के दैहिक संस्कारों के प्रति इसी प्रकार के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं।

मनुष्य क्षुधाकाम की प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर सामाजिक संगठन की ओर, और जरामरण के भय से आध्यात्मिक सत्य की खोज की ओर अग्रसर हुआ है। भौतिक दर्शन का यह दावा ठीक ही जान पड़ता है कि एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में जिसमें कि अधिकाधिक मनुष्यों को क्षुधा-काम की परितृप्ति के लिए पर्याप्त साधन मिल सकते हैं और वे

वर्तमान युग की संरक्षणहीनता से मुक्त हो सकते हैं, उन्हें अपने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए भी अधिक अवकाश और सुविधाएँ मिल सकेंगी। एक ओर समाजवादी विधान, उत्पादन यंत्रों की सामाजिक उपयोगिता बढ़ाकर, मनुष्य को वर्तमान आर्थिक संघर्ष से मुक्त कर सकेगा, दूसरी ओर वह उसे सामंतवादी सांस्कृतिक मानों की संकीर्णता से मुक्ति दे सकेगा, जिनकी ऐतिहासिक उपयोगिता अब नहीं रह गई है और जिनकी धारणाएँ आमूल विकसित एवं परिवर्तित हो गई हैं। यदि भावी समाज मनुष्य को रोटी (जन आवश्यकताओं का प्रतीक) की चिन्ता से मुक्त कर सका तो उसके लिए केवल सांस्कृतिक संघर्ष का प्रश्न ही शेष रह जायगा। प्रत्येक धर्म और संस्कृति ने अपने देशकाल से संबंध रखने वाले साक्षेप सत्य को निरपेक्ष (संपूर्ण) सत्य का रूप देकर, मनुष्य के (स्वर्ग नरक संबंधी) सुख और भय के संस्कारों से लाभ उठाकर, उसकी चेतना में धार्मिक और सामाजिक विधान स्थापित किए हैं जो कि सामंत युग की परिस्थितियों को सामने रखते हुए, व्यावहारिक दृष्टि से उचित ही था। इस प्रकार प्रत्येक युग पुरुष, राम कृष्ण बुद्ध आदि, जो कि अपने युग के सापेक्ष के प्रतीक हैं, जनता द्वारा शाश्वत पुरुष (निरपेक्ष) की तरह माने और पूजे गए हैं। सामंतकालीन उदात्तनायक के रूप में हमारे साहित्य के 'सत्यं शिवं सुंदरम्' के शाश्वत मान भी केवल उस युग के सगुण से संबंध रखने वाली सापेक्ष धारणाएँ मात्र हैं। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ मनुष्य के मौलिक संस्कार, क्षुधा-काम आदि निरपेक्षतः कोई सांस्कृतिक मूल्य नहीं रखते। सभ्यता के युगों की विविध परिस्थितियों के अनुरूप उनका जो व्यावहारिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य निर्दिष्ट हो जाता है इस का प्रभाव मनुष्य के सत्य शिव सुन्दर की भावनाओं में भी पड़ता है। मनुष्य की प्राणिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच में जितना विशद सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा, उसीके अनुरूप, जन-समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक दूसरे में लीन हो

जाएँगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जायगा, व्यक्ति के क्षुद्र देह ज्ञान की (अहमात्मिका) भावना विकसित हो जाएगी; उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वत: कार्य करने लगेगा, और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जाएगा।

सामंत युग के स्त्री-पुरुष संबंधी सदाचार का दृष्टिकोण अब अत्यन्त संकुचित लगता है। उसका नैतिक मानदंड स्त्री की शरीर यष्टि रहा है। उस सदाचार के एक अंचल छोर को हमारी मध्ययुग की सती और हमारी बालविधवा अपनी छाती से चिपकाए हुई है और दूसरे छोर को उस युग की देन वेश्या। 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' के अनुसार उस युग के आर्थिक विधान में भी स्त्री के लिए कोई स्थान नहीं और वह पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती रही है। स्त्री-स्वातंत्र्य संबंधी हमारी भावना का विकास वर्तमान युग की आर्थिक परिस्थितियों के साथ ही हो रहा है। स्त्रियों का निर्वाचन अधिकार संबंधी आंदोलन बूर्ज्वा संस्कृति एवं पूँजीवादी युग की आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। सामंत युग की नारी नर की छाया मात्र रही है।

'सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूतयोनि वह : मूल्य पर धर्म केवल उसका अंकित।
वह समाज की नई इकाई—शून्य समान अनिश्चित
उसका जीवन मान, मान पर नर के है अवलंबित।
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।'

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि संसार अभी सामंत युग की क्षुद्रनैतिक और सांस्कृतिक भावनाओं ही से युद्ध कर रहा है, पृथ्वी पर अभी यंत्र युग प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। आने वाला युग मनुष्य की क्षुधा काम की प्रवृत्तियों में विकसित सामाजिक सामंजस्य स्थापित कर हमारे सदाचार के दृष्टिकोण एवं सत्यं शिवं सुन्दरम् की धारणाओं में प्रकारांतर उपस्थित कर सकेगा।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों को लोकोत्तर कल्याण-कारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग संघर्ष आदि से संबंध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से, मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज में, सापेक्ष के उस पार, 'अवाङ् मनस गोचरम्' की ओर चले गये हैं वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अन्तस्तल तक डुबकी लगाकर, उसके आलोक में, जनसमाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी वहीं हो सका है।

फ्रायड जैसे निम्न मन के मनोवैज्ञानिक 'इड' के विश्लेषण में सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते हैं। वहाँ निश्चेतन (अनकांशश) पर, विवेक का नियंत्रण न होने के कारण, वे भ्रांति पैदा होने का भय बतलाते हैं। भारतीय तत्वद्रष्टा, शायद, अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलता-पूर्वक पहुँच कर 'तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य वाह्यतः' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके हैं।

मैं, अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ हूँ। पर भारतीय दर्शन की, सामंतकालीन परिस्थितियों के कारण जो एकांत परिणति व्यक्ति की जीवन-मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं), और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्गयुद्ध और रक्तक्रांति में परिणत हुई है—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।

अध्यात्म दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह सापेक्ष

जगत ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है वह मन और बुद्धि से अतीत है। किन्तु इस सापेक्ष जगत का—जिसका सम्बन्ध मानव जाति की संस्कृतियों—आचार विचार, रीति नीति और सामाजिक सम्बन्धों से है—विकास किस प्रकार हुआ, इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। हमारे सांस्कृतिक हृदय के 'सत्यं शिवं सुंदरम्' का बोध सापेक्ष है, सत्य इस सूक्ष्म से परे है—, यह अध्यात्म दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन शक्ति गतिशील (डाइनेमिक) है, सामंतकालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव समाजका संचालन भविष्य में नहीं हो सकता, उसे नवीन जीवन मानों की आवश्यकता है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं, आदि,—यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है, दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मैं जो वस्तु दर्शन (ऑबजेक्टिव फ़िलॉसफ़ी) के सिद्धांतों पर इतना जोर दे रहा हूँ इसका यही कारण है कि परिवर्तन काल में भाव दर्शन (सबजेक्टिव फ़िलॉसफ़ी) की—जो कि अभ्युदय और जागरण युग की चीज है—उपयोगिता प्रायः नष्ट होती है। सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अन्धकार में फैले, इस मध्यकालीन संस्कृति के ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को, जड़ और शाखा सहित उखाड़ कर फेंक देना होगा। और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार संग्राम करना पड़ेगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तुस्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते, जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाशलता शताब्दियों के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मतमतांतरों की शाखाप्रशाखाओं में पुंजीभूत और आच्छन्न होकर, एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़ कर, उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त को शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना, और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धांतों

को ग्रहण किए बिना, हम में वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्य, सामूहिक उत्तरदायित्व, परोक्ष और ऐहिक विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती, जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। युग के सृजन एवं निर्माण काल में संस्कृति के मूल सदैव परिस्थितियों की वास्तविकता ही में होते हैं, वह अधोमूल वास्तविकता, समय के साथ साथ, विकास एवं उत्कर्ष काल में, ऊर्ध्वमूल (भावरूप) सांस्कृतिक चेतना बन जाती है। आज जब कि पिछले युगों की वास्तविकता आमूल परिवर्तित और विकसित होने जा रही है, हमारी संस्कृति को, नवीन जन्म ग्रहण करने के प्रयास में, फिर से अधोमूल होना ही पड़ेगा। हम शताब्दियों से एक ही मूल सत्य को नित्य नवीन रूप (इंटरप्रटेशंस) देते आए हैं, अब उस सामंत गुण की, नवीन वस्तु-परिस्थितियों अनुरूप, रूपांतरित होने की मौलिक क्षमता समाप्त हो गई है, क्योंकि विगत युगों की वास्तविकता आज तक मात्राओं में घट बढ़ रही थी, अब वह प्रकार में बदल रही है।

मनुष्य का विकास समाज की दिशा को होता है, समाज का इतिहास की दिशा को,—इस ऐतिहासिक प्रगति के सिद्धान्त को हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

'अंतर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान।'

भौतिक दर्शन 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सत्य को सामाजिक वास्तविकता में परिणत करने योग्य समाजवादी विधान का जन्मदाता है। भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद के सत्य को देशकाल के भीतर (संस्कृति के रूप में) प्रतिष्ठित करने के योग्य विधान को जन्म देना सामंत युग की परिस्थितियों के बाहर था। उसके लिए एक ओर भौतिक विज्ञान के विकास द्वारा, भौतिक शक्तियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की जरूरत थी, दूसरी ओर मनुष्य की

सामूहिक चेतना के विकास की। जीवन की जिस पूर्णता के आदर्श को मनुष्य आज तक अन्तर जगत में स्थापित किए हुए था, अब उसे, एक सर्वाङ्गपूर्ण तंत्र के रूप में, वह बहिर्जगत् में भी स्थापित करना चाहता है। रहस्य और अलौकिकता के प्रति अब उसकी धारणा अधिक बौद्धिक और वास्तविक हो रही है। आने वाला युग सामंत युग के स्वर्ग की अंतर्मुखी कल्पना और स्वप्नों को सामाजिक वास्तविकता का रूप दे सकेगा। मनुष्य का सृजन-शक्ति का ईश्वर लोक-कल्याण के ईश्वर में विकसित हो जाएगा।

'स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव, स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर जग ही बहिर्जगत बन जावे, वीणा पाणि, इ!'

भौतिक जगत् की प्रारम्भिक कठोर परिस्थितियों से कुंठित 'आदिम मानव' की हिंस्र आत्मा नवीन परिस्थितियों के प्रकाश में डूब कर आलोकित हो जाएगी और यंत्र-युग के साथ साथ मानव सभ्यता में स्वर्णयुग पदार्पण कर सकेगा। ऐसी सामाजिकता में मनुष्य जाति 'अहिंसा' को भी व्यावहारिक सत्य में परिणत कर सकेगी।

'मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन विकास की साम्य योजना है अविवाद'—

वर्तमान विश्वव्यापी युद्ध के युग में उपर्युक्त विवेचना के लिए शायद ही दो मत हो सकते हैं।

यदि स्वर्णयुग की आशा आज की अतृप्त आकांक्षा की काल्पनिक पूर्ति और पलायन प्रवृत्ति का स्वप्न भी है तो वह इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य है। यदि इस विज्ञान के युग में, मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से, अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन आज के रिक्त और सन्दिग्ध मनुष्य के जीवन के प्रति नवीन अनुराग, नवीन कल्पना और स्वप्न नहीं भर सकता तो, यह कहीं अच्छा है कि इस दैन्य

जर्जर, अभाव ज्वर पीड़ित', जाति वर्ग में विभाजित, रक्त की प्यासी मनुष्य जाति का अन्त हो जाय। किंतु जिस जीवन-शक्ति की महिमा युग युग से दार्शनिक और कवि गाते आए हैं, जिसके क्रियाकलापों और चमत्कारों का विश्लेषण कर आज के वैज्ञानिक चकित और मुग्ध हैं, वह सर्वमयी शक्ति केवल पृथ्वी का गौरव मानव जाति के विश्व को ही इस प्रकार जीता-जागता नरक बनाए रहेगी, इस पर किसी तरह विश्वास नहीं होता।

इन्हीं विचारधाराओं, स्वप्नों और कल्पना से प्रेरित होकर मैंने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को जन्म दिया। ग्राम्या के लिए युगवाणी पृष्ठ-भूमि का काम करती है। ग्राम्या की भूमिका में मैंने ग्रामीणों के प्रति अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूति की बात लिखी है, उस पर मेरे आलोचकों ने मुझ पर आक्षेप किए हैं। 'ग्राम जीवन में मिल कर', उसके भीतर से मैं इसलिए नहीं लिख सका कि मैंने ग्राम जनता को 'रक्त मांस के जीवों' के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है, और ग्रामों को सामंत युग के खंडहर के रूप में।

'यह तो मानव लोक नहीं रे यह है नरक अपरिचित
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।'
'मानव दुर्गति की गाथा से ओतप्रोत, मर्मान्तिक
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक।'

इसी ग्राम को मैंने ग्राम्या की रंगभूमि बनाया है।

'रूढ़ि रीतियों के प्रचलित पथ, जाति पाँति के बंधन,
नियत कर्म हैं, नियत कर्मफल—जीवन चक्र सनातन !'

सांस्कृतिक दृष्टि से जिस प्रिय अप्रिय या सत्य मिथ्या के बोध से जनगण का जीवन परिचालित होता है, उसकी ऐतिहासिक उपयोगिता नष्ट हो चुकी है।

'ये जैसे कठपुतले निर्मित . . .युग युग की प्रेतात्मा अविदित
इनकी गति विधि करती यंत्रित !'—

यह बात 'सारा भारत है आज एक रे महाग्राम' के लिए भी चरितार्थ होती है। इस प्रकार मैंने ग्रामीणों को 'भावी के स्वप्नपट' में चित्रित किया है, जिसमें—

'आज मिट गए दैन्य दुःख सब क्षुधा तृषा के क्रंदन
भावी स्वप्नों के पट पर युग जीवन करता नर्तन।
ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे,—मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल मिट गई मनुज जीवन से।'

जिसकी तुलना में उनकी वर्तमान दशा 'ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करुण कथा का जीवित'—प्रमाणित हुई है।

किन्तु जनता की इस सांस्कृतिक मृत्यु के कारणों पर नवीन विचार-धारा पर्याप्त प्रकाश डालती है और वहाँ वे व्यक्ति नहीं रहते प्रत्युत एक प्रणाली के अंग बन जाते हैं। इसीलिए मैं उन्हें बौद्धिक सहानुभूति दे सका हूँ।

'आज असुन्दर लगते सुंदर, प्रिय पीड़ित शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव मुख हरता मन!'

या

'वृथा धर्म गण तंत्र,—उन्हें यदि प्रिय न जीव जन जीवन'

अथवा

'इन कीड़ों का भी मनुज बीज, यह सोच हृदय उठता पसीज' आदि पंक्तियाँ हार्दिकता से शून्य नहीं हैं। यदि मुझे सामंत-युग की संस्कृति के पुनर्जागरण पर विश्वास होता, तो जनता के संस्कारों के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति भी होती। तब मैं लिखता,—'इस तालाब में (जन मन में) काई लग गई है, इसे हटाना भर है, इसके अन्दर का जल अभी निर्मल है।'—जो पुनर्जागरण की ओर इंगित करता है; पर मैंने लिखा है,—'इस तालाब का पानी सड़ गया है, इस कृमिपूर्ण जल से काम नहीं चलेगा, उसमें भविष्य के लिए उपयोगी नया जल (संस्कृति)

भरना पड़ेगा।'—जो सांस्कृतिक क्रांति की ओर लक्ष्य करता है। मैंने 'यहाँ धरा का मुख कुरूप है' ही नहीं कहा है 'कुत्सित गर्हित जन का केवल भावुकता और सहानुभूति से कैसे काम चल सकता है? वह तो ग्रामीणों के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन क्षुधा-ग्रस्त किसानों को तपस्वी की उपाधि देने के सिवा हमें आगे नहीं ले जा सकती। इस प्रकार की थोथी सहानुभूति या दया काव्य (पिटी पोयट्री) से मैंने 'वे आँखें', 'गाँव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'ग्रामवधू', 'नहान' आदि कविताओं को बचाया है जिनमें, वर्तमान प्रणाली के शिकार, ग्रामीणों की दुर्गति का वर्णन होने के कारण ये बातें सहज ही में आ सकती थीं।

डी० एच० लारेंस ने भी निम्न वर्ग की मानवता का चित्रण किया है और वह उन्हें हार्दिकता दे सका है, पर हम दोनों के साहित्यिक उपकरणों में बड़ा भारी अंतर है। उसकी सर्वहारा (मशीन के संपर्क में आई हुई जनता) की बीमारी उनके राजनीतिक वर्ग संस्कार है जिनका लारेंस ने चित्रण किया है। अपने देश के जनसमूह (मॉब) की बीमारी उससे कहीं गहरी, आध्यात्मिकता के नाम में रूढ़ि-रीतियों एवं अंधविश्वासों के रूप में पथराए हुए (फॉसिलाइज्ड) उनके सांस्कृतिक संस्कार हैं। लारेंस के पात्र अपनी परिस्थितियों के लिए सचेत और सक्रिय हैं। ग्राम्या के दरिद्रानारायण अपनी परिस्थितियों ही की तरह जड़ और अचेतन।

'वज्रमूढ़, जड़भूत, हठी, वृष बांधव कर्षक,
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक।'

फिर लारेंस जीवन के मूल्यों के संबंध में प्राणिशास्त्रीय मनोविज्ञान (बाएलॉजिकल थॉट) से प्रभावित हुआ है, मैं ऐतिहासिक विचारधारा से, जिसका कारण स्पष्ट ही है कि मैं सन् १९४७ ई० तक पराधीन देश का कवि रहा हूँ। लारेंस जहाँ द्वन्द्व-पीडन (सेक्सरिप्रसन) से मुक्ति

चाहता है, मैं राजनीतिक आर्थिक शोषण से। फिर भी, मुझे विश्वास है कि, ग्राम्या को पढ़ कर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मैंने दरिद्रनारायण के प्रति हृदयहीनता दिखलाई है।

ऐतिहासिक विचारधारा से मैं अधिक प्रभावित इसलिए भी हुआ हूँ कि उसमें कल्पना के स्रोत को विशद और वास्तविक पथ मिलता है। छायावाद के दिशाहीन, शून्य, सूक्ष्म आकाश में अति काल्पनिक उड़ान भरने वाली अथवा रहस्यवाद के निर्जन अदृश्य शिखर पर कालहीन विराम करने वाली कल्पना को एक हरी-भरी ठोस जनपूर्ण धरती मिल जाती है।

'ताक रहे हो गगन? मृत्यु नीलिमा गहन गगन?
निःस्पंद शून्य, निर्जन, निःस्वन?
देखो भूको, स्वर्गिक भू को!
मानव पुण्य प्रसू को!'—

इसी लक्ष्य परिवर्तन की ओर इंगित करता है। 'कितनी चिड़िया उड़े अकास, दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतर आने से कल्पना के लिए जीवन के सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है; और कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, कलाकौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म दर्शन के रूप में, एवं भिन्न-भिन्न राजनीतिक आर्थिक व्यवस्थाओं में खंड खंड विभक्त मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है।

किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन हित'

के अनुसार मध्य युग के अन्तर्मुखी वैयक्तिक प्रगति के सिद्धांतों की जनसमूह के लिए व्यावहारिक उपयोगिता के प्रति मेरा विश्वास उठ गया।

और

'वस्तुविभव पर ही जन गण का भाव विभव अवलंबित'

सत्य के आधार पर मेरा हृदय नवीन युग की सुविधाओं के अनुरूप एक ऐसी सामूहिक सांस्कृतिक चेतना की कल्पना करने लगा जिसमें मनुष्य के हृदय की सामंत युग की क्षुद्र चेतना का बोध डूब जाय! साथ ही अभाव पीड़ित जनसमूह की दृष्टि से, अतृप्त इच्छाओं का सामूहिक सात्विक विकास (सबलिमेशन) किया जा सकता है, इस नैतिक तथ्य की व्यावहारिकता पर भी मुझे संदेह होने लगा।

छायावादी कवियों पर अतृप्त वासना का लांछन मध्यवर्गीय (बूर्ज्वा) मनोविज्ञान (डेप्थ साइकॉलॉजी) के दृष्टिकोण से नहीं लगाया जा सकता। भारत की मध्ययुग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है, जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एवं सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए हैं। संसार में सभी देशों की संस्कृतियाँ अभी सामंत-युग की नैतिकता से पीड़ित है। हमारी क्षुधा (संपत्ति) काम (स्त्री) के लिए अभी वही भावना बनी है। पुरानी दुनिया का सांस्कृतिक सगुण अभी निष्क्रिय नहीं हुआ है, और यंत्रयुग उन परिस्थितियों को जन्म नहीं दे रहा है, जिन पर अवलम्बित सामाजिक संबंधों से उदित नवीन प्रकाश (चेतना) मानव जाति का नवीन सांस्कृतिक हृदय बन सके।

'गत सगुण आज लय होने को : औ' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय।'

मेरी कल्पना भविष्य की उस मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करने में सुख का अनुभव करने लगी, जिसका आधार ऐतिहासिक सत्य है। ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग मैं इतिहास विज्ञान ही के अर्थ में कर रहा हूँ, जो दृश्य और द्रष्टा के सामूहिक विकास के नियमों का निरूपण करता है,—'मानव गुण, भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत्।' मैं यह

भी मानता हूँ कि सामूहिक विकास में बाह्य स्थितियों से प्रेरित होकर मनुष्य की अन्तर्चेतना (साइकी), तदनुकूल, पहले ही विकसित हो जाती है। यथा—

'जग जीवन के अंतर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।'

किंतु उसके बाद भी मनुष्य के उपचेतन (सबकांशश) के आश्रित विगत सांस्कृतिक गुणों की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं, जिसका परिणाम बाह्य संघर्ष होता है, साथ ही वह नव विकसित निश्चेतन (अनकांशश) की सहायता से प्रबुद्ध होकर नवीन सत्य का समन्वय भी करता जाता है।

अध्ययन से मेरी कल्पना जिन निष्कर्षों पर पहुँच सकी है, उनका मैंने ऊपर संक्षेप में, निरूपण करने का प्रयत्न किया है। मैं कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश भी मानता हूँ। मेरी कल्पना को जिन-जिन विचारधाराओं से प्रेरणा मिली है, उन सबका समीकरण करने की मैंने चेष्टा की है। मेरा विचार है कि वीणा से लेकर ग्राम्या तक, अपनी सभी रचनाओं में मैंने अपनी कल्पना की वाणी दी है, और उसी का प्रभाव उन पर मुख्य रूप से रहा है। शेष सब विचार, भाव, शैली आदि उसकी पुष्टि के लिए गौण रूप से काम करते रहे हैं।

मेरे आलोचकों का कहना है कि मेरी इधर की कृतियों में कला का अभाव रहा है। विचार और कला की तुलना में इस युग में विचारों ही को प्राधान्य मिलना चाहिए। जिस युग में विचार (आइडिया) का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है, उस युग में कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में कला का कला के लिए भी प्रयोग होने लगा था। वह साहित्य में विचार-क्रांति का युग नहीं था। किन्तु, क्या चित्रकला में, क्या साहित्य में, इस युग के कलाकार

केवल नवीन टेकनीकों का प्रयोग मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्य में अधिक संगतिपूर्ण ढंग से किया जा सकेगा। जागरण-युग के कवियों में, कविगुरु कालिदास और रवीन्द्रनाथ की तरह, कला का अत्यन्त सुचारु मिश्रण और मार्जन देखने को मिलता है। कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओं में सामंत-युग के समस्त कलावैभव का नवीन रूप से उपयोग कर सके हैं। उससे परिपूर्ण, कलात्मक, संगीतमय, भावप्रवण और दार्शनिक कवि एवं साहित्य-श्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है, इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं है। भारत जैसे संपन्न देश का समस्त सामंतकालीन वाङमय, अपने युग के सांस्कृतिक समन्वय का विश्व-व्यापी स्वप्न देखने के लिए बुझने से पहले जैसे अपनी समस्त शक्ति को व्यय कर, रवि आलोकित प्रदीप की तरह, एक ही बार में प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्य के प्रकाश में संसार को परिप्लावित कर गया है। फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण-युग के अशांत, संदिग्ध, पराजित एवं असिद्ध कलाकार को विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल कला का यथोचित एवं यथासंभव प्रयोग करना चाहिए। अपनी युग-परिस्थितियों से प्रभावित होकर मैं साहित्य में उपयोगितावाद ही को प्रमुख स्थान देता हूँ, लेकिन सोने को सुगंधित करने की चेष्टा स्वप्नकार को अवश्य करनी चाहिए।

प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है। वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति ही की ओर रहा, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जनसमाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धांतों का पक्षपाती है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवन सत्य की संपूर्ण अंशों में पूर्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख दुःख, नैराश्य विछोह आदि की भावनाएँ उसके स्वभाव और रुचि का वैचित्र्य, उसकी गुण-विशेषता, प्रतिभा आदि का किसी भी सामाजिक जीवन के भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक विकसित सामाजिक

प्रणाली का, परस्पर के सौहार्द्र और सद्भावना की वृद्धि के कारण, व्यक्ति के निजी सुख-दुःखों पर भी अनुकूल ही प्रभाव पड़ सकता है और उसकी प्रतिभा एवं विशिष्टता के विकास के लिए उसमें कहीं अधिक सुविधाएँ मिल सकती हैं। ऐतिहासिक विचारधारा वर्तमान युग की उस स्थिति विशेष का समाधान करती है, जो यंत्रयुग के प्रथम चरण पूँजीवाद ने धनी और निर्धन वर्गों के रूप में पैदा कर दी है, और जिसका उदाहरण सभ्यता के इतिहास में दूसरा नहीं मिलता। मध्य-युगों की 'अन्न-वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित' जनता का इस वाष्प-विद्युद्गामी युग में संपूर्ण जीर्णोद्धार न करना, उनके मनुष्यत्व के प्रति कृतघ्नता के सिवा और कुछ नहीं है। युगवाणी का 'कर्म का मन' चेतन और सामूहिक (कांशश एंड कलक्टिव) कर्म का दर्शन है, जो सामूहिक सृजन और निर्माण का, 'भव-रूप कर्म' का संदेश देता है।

विशिष्ट व्यक्ति की चेतना सदैव ही ह्रासोन्मुख समाज की रूढ़ि, रीति-नीतियों से ऊपर होती है, उसके व्यक्तित्व की सार्वजनिक उपयोगिता रहती है। अतएव, उसे किसी भी समाज और युग में मान्यता मिल सकती है। विचार और कर्म में किसका प्रथम स्थान है, हीगल की आइड़िया प्रमुख है कि मार्क्स का मैटर-ऐसे तर्क और ऊहापोह व्यर्थ जान पड़ते हैं। उन्नीसवीं सदी के शरीरविज्ञान और मनोविज्ञान सम्बन्धी अथवा आदर्शवाद वस्तुवाद सम्बन्धी विवादों की तरह हमारा अध्यात्म और भौतिकवाद सम्बन्धी मतभेद भी एकांगी है। आधुनिक, भौतिकवाद का विषय ऐतिहासिक (सापेक्ष) चेतना है और अध्यात्म का विषय शाश्वत (निरपेक्ष) चेतना। दोनों ही एक दूसरे के अध्ययन और ग्रहण करने में सहायक होते हैं और ज्ञान के सर्वांगीण समन्वय के लिए प्रेरणा देते हैं।

× × ×

आज इस संक्षिप्त वीणा-ग्राम्या चयन के पृष्ठों पर आरपार दृष्टि डालने से मुझे यही जान पड़ता है कि जहाँ मेरी कल्पना ने मेरा साथ

दिया है वहाँ मैं भावी मानवता के सत्य का सफलता-पूर्वक वाणी दे सका हूँ और जहाँ मैं किसी कारणवश, अपनी कल्पना के केन्द्र से च्युत या विलग हो गया हूँ, वहाँ मेरी रचनाओं पर मेरे अध्ययन का प्रभाव अधिक प्रबल हो उठा है, और मैं केवल आंशिक सत्य को दे सका हूँ। इस भूमिका में मैंने उस प्रश्नावली के उत्तरों का भी समावेश कर दिया है, जो सुहृद्वर श्री वात्स्यायन जी ने, मेरे आलोचक की हैसियत से, आल इंडिया रेडियो से ब्राडकास्ट किए जाने के लिए तैयार की थी और जिसके बहुत से प्रश्नोत्तरों का आशय प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित रचनाओं पर प्रकाश डालने के लिए मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

मानव-समाज का भविष्य मुझे जितना उज्ज्वल और प्रकाशमय जान पड़ता है, उसे वर्तमान के अन्धकार के भीतर से प्रकट करना उतना ही कठिन भी लगता है। भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद-विवादों, अर्थशास्त्र और राजनीति के मतांतरों द्वारा, इस संदिग्धकाल के घृणा, द्वेष, कलह के वातावरण के भीतर से अपने को वाणी नहीं देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के तर्क, संघर्ष, ज्ञान, विज्ञान, स्वप्न, कल्पना सब घुलमिल कर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक एवं साकार हो जायँगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपात के उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हँसती-बोलती हुई, विश्व-निर्माण में निरत मानवता से अपनी सृजन-सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिवर्तन काल के विक्षुब्ध लेखक की अत्यन्त सीमाएँ और अपार कठिनाइयाँ हैं। इन पृष्ठों में अपने संबंध में लिखने में यदि कहीं, ज्ञात-अज्ञात रूप से, आत्मश्लाघा का भाव आ गया हो, तो उसके लिए मैं हार्दिक खेद प्रकट करता हूँ। मैंने कहीं-कहीं अपने को दुहराया है और शायद विवादपूर्ण सिद्धान्तों का विस्तार-पूर्वक समाधान भी नहीं किया है। अन्त में मैं ग्राम्या की अन्तिम 'विनय' से दो पक्तियाँ उद्धृत कर लेखनी को विराम देता हूँ—

हो धरणि जनों की : जगत स्वर्ग,—जीवन का घर
नव मानव को दो प्रभु, भव मानवता का वर!'

ईश्वरीभवन, अलमोड़ा
१५ दिसम्बर १९४१

सुमित्रानंदन पंत

प्रस्तुत संस्करण

आधुनिक कवि भाग २ के इस संस्करण में मैंने यत्र-तत्र परिवर्त्तन परिवर्धन कर दिए हैं, जिससे यह मेरी वर्त्तमान विकास-धारा का प्रतिनिधित्व कर सके। प्रस्तुत संस्करण की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए 'उत्तरा' तथा 'चिदंबरा' की भूमिकाएँ भी सहायक सिद्ध होंगी।

१८।७ बी, कस्तूरबा गांधी मार्ग
इलाहाबाद
२४ जुलाई ६०

सुमित्रानंदन पंत

7-7-1968

आधुनिक कवि

२

रीतिकाल का मुख्य विषय नारी होना। अतः उस परम्परा को छोड़ कर प्रकृति को प्रधानता देने के लिए कवि ने 'Back to nature' वाली परम्परा को अपनाया है।

सरित्सागर की तरंगों के मधुर

X. मृग के समान चंचल एवं भोले मन वाले तुम्हारी अनुपम भौंहों के कटाक्ष बाणों द्वारा कैसे बिंधवा दूँ? अभी तो मेरा मन प्रकृति की गोद में स्वच्छन्द रूप से विचरण करता है।

अमृत के समान शीतल, जीवन प्रदायक (प्राण देने वाला) ओस की बूँदें अभी मेरे लिये अधिक आकर्षण रखती हैं। तुम्हारे अधरों का अमृत तो शराब के समान मादक होता है। मैं अभी उसका पान नहीं करना चाहता।

मोह

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले ! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को !

तज कर तरल तरंगों को,
इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू भंगों से कैसे बिधवा दूँ निज मृग सा-मन ?
भूल अभी से इस जग को !

कोयल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल,
कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ, सजनि, श्रवण ?
भूल अभी से इस जग को !

ऊषा-सस्मित किसलय-दल,
सुधा-रश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन ?
भूल अभी से इस जग को !

(१९१८)

अर्थात् मेरी हार में तू मुझे अपना कर अपने वक्ष से चिपटा ले और सान्त्वना प्रदान करे।

विनय

मा! मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय हार हो,
अश्रुकणों का यह उपहार!
मेरे सफल श्रमों का सार
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रमजलमय मुक्तालंकार!
मेरे भूरि दुखों का भार
तेरी उर इच्छा का फल हो;
तेरी आशा का श्रृंगार ;
मेरे रति, कृति, व्रत, आचार
माँ! तेरी निर्भयता हो नित
तेरे पूजन के उपचार—
यही विनय है बारंबार!

जनवरी (१९१८)

1. कवि कहता है कि हे माँ! जब मैं हार जाऊं और तेरे वक्ष से चिपट कर आँसू बहाऊं तो मेरे उन आँसुओं का उपहार तेरे हृदय का सुन्दर हार बन जाय।

प्रथम रश्मि

१. प्रसाद ने भी 'कामायनी' में इसी भाव को व्यक्त किया है।

२. 'निराकारतम .... नाना' — ये पंक्तियाँ उस दार्शनिक सिद्धान्त को अभिव्यक्ति दे रही हैं जिसके अनुसार जब ब्रह्म निराकार अथवा अव्यक्त रूप में रहता है तो समस्त नाना रूपात्मकता जगत उसी में छिपा रहता है। जब अव्यक्त ब्रह्म व्यक्त (साकार) रूप धारण करता है तब उसी से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। अर्थात यह सृष्टि अव्यक्त ब्रह्म का ही साकार रूप है। यहाँ अन्धकार निराकार रूप और प्रकाश साकार रूप है।

३. इस सम्पूर्ण कविता में छायावादी लाक्षणिक और प्रतीक-प्रधान शैली का प्रयोग किया गया है। प्रकृति के विभिन्न रूपों का मानवीकरण छायावादी काव्य की विशेषता रही है। वही प्रवृत्ति इस कविता में मिलती है।

स्नेह—हीन तारों के दीपक,
श्वास शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मंडप ताना;

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि!
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अंतर्यामिनि!
बतलाया उसका आना?

निकल सृष्टि के अंध-गर्भ से
छाया-तन बहु छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना-माना,

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल क्रोड़ में बंदी था अलि,
कोक शोक से दीवाना;

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना;

तूने ही पहिले बहु दर्शिनि!
गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का, नभचारिणि!
गूँथ दिया ताना बाना!

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम-रूप नाना;

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का सा दाना;

चार

खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
जगी सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पंदन कम्पन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

→ चारों ओर सूर्य किरणों के पड़ने से सुनहरी आभा छा गयी।

सारा संसार नवजीवन प्राप्त कर गया और उत्साह से भर उठा

नया जीवन, नयी गति और नये उत्साह का अनुभव संसार ने किया

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ, हे बाल विहंगिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?

(१९१९)

→ तेरे ही संगीत के प्रभाव से कल्याणकारी सुख का सौरभ समस्त विश्व में व्याप्त हो गया।

→ अन्धकार में ... संसार का सारा स्वरूप बदल गया।
(भारतीय दर्शन —

पर्वत प्रदेश में पावस वर्षा

i, छायावादी शैली में प्रकृति का मानवीकरण
ii, आरम्भ में आलम्बन रूप तथा अन्त में उद्दीपन रूप
iii, नाद सौन्दर्य

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश;
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश। भेस, बाह्य रूप, पहनावा

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़, फाड़ फाड़ कर
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार, विशाल आकार

—जिसके चरणों में पला ताल गड्ढा
दर्पण-सा फैला है विशाल!

गिरि का गौरव गाकर झर् झर्
मद में नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों-से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर!

गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर ऊँचे वृक्ष
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर! ध्यान में डूबे

उड़ गया, अचानक लो, भूधर पर्वत
फड़का अपार वारिद के पर! बादल] अर्थात् अदृश्य हो गया
रव शेष रह गए हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!

छः भाव यह है कि ऊपर से लेकर नीचे तक चारों ओर
घने-काले बादल छा रहे थे।

(Handwritten margin notes: बादल उमड़-घुमड़ कर प्रकृति को प्रतिक्षण नया-नया रूप प्रदान करते थे; करधनी के रूप में गोलाकार, गोलाकार रूप में (जो गहना जो कमर में पहना जाता है।); देख; (1); महोगान; मादकता; माला, श्रृंखला, कतार; मोती की लड़ियों के समान सुन्दर झाग से भरे झरने झर रहे हैं।; नसों को उत्तेजित कर उन में मादकता भर देते हैं। अर्थात् उस व्यक्ति को सुन कर शरीर पर एक नशा सा छा जाता था।; (2); परस्पर आपस में ऊँचे उठने की प्रतिस्पर्धा सी करते खड़े थे।; शान्त; एकटक; (3); शोर, ध्वनि; झरने भी बादलों में छिप गये, केवल झर-झर निनाद ही सुनाई पड़ रहा था।; सीमा, लम्बा-चौड़ा प्रदेश)

धँस गए धरा में सभय शाल!
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल!
—यों जलद यान में विचर, विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल!

(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर!)

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी;
सरल शैशव की सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी!

(१९२१)

आँसू की बालिका

एक वीणा की मृदु झंकार!
कहाँ है सुन्दरता का पार!
तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि,
दिखाऊँ मैं साकार!

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा स्नान;
तुम्हारी वाणी में, कल्याणि
त्रिवेणी की लहरों का गान!

अपरिचित चितवन में था प्रात,
सुधामय साँसों में उपचार,
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार!

करुण भौंहों में था आकाश,
हास में शैशव का संसार;
तुम्हारी आँखों में कर वास
प्रेम ने पाया था आकार!

कपोलों में उर के मृदु भाव,
श्रवण नयनों में प्रिय बर्ताव;
सरल संकेतों में संकोच,
मृदुल अधरों में मधुर दुराव!

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों के साँस!

बिन्दु में थीं तुम सिन्धु अनन्त,
एक स्वर में समस्त संगीत;
एक कलिका में अखिल वसन्त,
धरा में थीं तुम स्वर्ग पुनीत !

विधुर उर के मृदु भावों से
तुम्हारा कर नित नव शृंगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हें, कुमारि !
मूंद दुहरे दृग द्वार !
अचल पलकों में मूर्ति सँवार
पान करता हूँ रूप अपार;
पिघल पड़ते हैं प्राण
उबल चलती है दृग जल धार !

बालकों-सा ही तो मैं हाय !
याद कर रोता हूँ अनजान;
न जाने होकर भी असहाय,
पुनः किस से करता हूँ मान !

× × ×

मूंद पलकों में प्रिया के ध्यान को,
थाम ले अब, हृदय ! इस आह्वान को !
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नहीं
प्रेयसी के शून्य पावन स्थान को !
तेरे उज्ज्वल आँसू सुमनों में सदा
वास करेंगे, भग्न हृदय ! उनकी व्यथा
अनिल पोंछेगी, करुण उनकी कथा
मधुप बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा !

(१९२२)

२. इस कविता में प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप चित्रित हुआ है। प्रकृति के विभिन्न रूप कोमल कल्पना-करुण और नवीन हैं।

२ इस सम्पूर्ण कविता में अनुप्रासों की स्वाभाविक छटा, उपमा, सांगरूपक तथा ध्वन्यात्मकता विशेष रूप से दर्शनीय है।

३. कवि वेदना को ही काव्य और संगीत का जनक मानता है।

... अश्रुकणों का हार!!

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार मन;
गहरे धुंधले, धुले, साँवले,
मेघों-से मेरे भरे नयन!

मेरा मन मानसरोवर के सदृश वेदना रूपी जल से भरा उमड़ रहा है। उद्वेलित हो रहा है।

कभी उर में अगणित मृदुभाव
कूजते हैं विहगों-से हाय!
अरुण कलियों से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय!

अर्थात् हृदय कोमल भावनाओं से भर उठता है।

प्रिया की स्मृति रूपी कोमल घाव

जिस प्रकार कली खिलती उसी प्रकार पुराने घाव खिलते हैं।

अस्पष्ट सी स्मृतियाँ विकसित हो मुझे उसी प्रकार आकुल कर देती हैं जैसे कोरा सा घाव ठेस लगने पर मर्मान्तक पीड़ा देता है।

इन्द्रधनु-सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे-सी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारों ओर!

तड़ित् सा, सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर;
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर;

जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान!

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;

नवोढ़ा बाल-लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिंग रुक कर
सरकती है सत्वर,

अकेली आकुलता सी, प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूंघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला;

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान,
मुझे करता तब अन्तर्धान;
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान!

× ×

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में, फैल!
अवनि औ' अम्बर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल!

शिखर पर विचर मरुत-रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर!

इन्द्रधनु की सुन कर टंकार
उचक चपला के चंचल बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार;
मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार!

अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,
विहंगम सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर!

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर झर;
झींगरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गंभीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर;
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर!

ऐसा प्रतीत होता था मानो पर्वत प्रश्न कर रहे हों और वर्षा अपना उत्तर दे रही हो। पर्वत पपीहों के स्वर में प्रश्न करता था और वर्षा मेघ-गर्जन में अपना उत्तर देती थी।

खैंच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार;

शिल्प से —

१. 'एक उत्सुकता ......थी' — में दीपक, 'मिल पलक ---- उठा' — में सहोक्ति एवं यथाक्रम तथा 'स्नेह' में श्लेष और 'दीप से' में उपमा अलंकार है।

२. प्रस्तुत - अप्रस्तुत का सामंजस्य है।

३. इस कविता में गद्य की सी शैली है। वर्णनात्मक काव्य में प्रायः इसी शैली का प्रयोग होता है।

४. कहा जाता है कि इस कविता में वर्णित घटना का कवि के व्यक्तिगत जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसी कारण इसमें अनुभूति की इतनी अधिक गहन मात्रा मिलती है। प्रकृति की मनोरम पृष्ठभूमि ने इसकी संवेदनशीलता को बहुत बढ़ा दिया है, दो अनजान हृदयों के प्रथम मिलन का बहुत ही भावात्मक, सच्चा और अनुभूति-गम्य चित्रण इस कविता में है।

रह

ग्रन्थि से

इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से
लाज से रक्तिम हुए थे:—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच में;
अचल रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछबि के काव्य में।

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानों प्रणय सम्बन्ध था।
लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप-से।
इन गढ़ों में—रूप के आवर्त-से—
घूम-फिर कर, नाव से किसके नयन
हैं नहीं डूबे भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के?

जब प्रणय का प्रथम परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को, तब यत्न से
बैठ कर मैंने निकट ही, शान्त हो,
विनत वाणी में प्रिया से यों कहा—

* बालिका के मुस्कराने पर उसके गालों में गढ़े पड़ जाते थे जो ऐसे सुन्दर प्रतीत होते थे मानो अधखुली सीप में सौन्दर्य की बाढ़ सी छलक रही हो।

'सलिल-शोभे ! जो पतित आहत भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से,
एक तरल तरंग से उसको बचा
दूसरी में क्यों डुबाती हो पुनः ?
'प्रेम कण्टक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उर में स्थान दे
क्या न सरस विकास दोगी तुम उसे ?
'मलिन उर छूकर तिमिरि का अरुण-कर
कनक आभा में खिलाते हैं कमल,
प्रिय बिना तम-शेष मेरे हृदय की
प्रणय कलिका की तुम्हीं प्रिय कान्ति हो।

'यह विलम्ब ! कठोर हृदये ! मग्न को
बालुका भी क्या बचाती है नहीं ?
निठुर का मुझको भरोसा है बड़ा,
गिरि शिलाएँ ही अभय आधार हैं।
'म्लान तम में ही कलाधर की कला
कौमुदी बन कीर्ति पाती है धवल,
दीनता के ही विकम्पित पात्र में
दान बढ़ कर छलकता है प्रीति से।

प्रिय ! निराश्रिति की कठिन बाँहें नहीं
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन भार से,
अल्पता की संकुचित आँखें सदा
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से।
दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज
सरल उपकृति का सजल मानस प्रिये !

क्षीण करुणालोक का भी लोक को
है वृहत् प्रतिविम्ब दिखलाता सदा।

'शरद के निर्मल तिमिर की ओट में
नव मिलन के पलक दल सा झूमता
कौन मादक कर मुझे है छू रहा
प्रिय! तुम्हारी मूकता की आड़ से?
'यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा'?

इन्दु की छबि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में!
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।

(१९२०)

सोलह

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के चिर जीवनधर;

मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर;
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर।

जलाशयों में कमल दलों-सा
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक-सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर;

लघु लहरों के चल पलनों में
हमें झुलाता जब सागर,
वही चील सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर।

भूमि-गर्भ में छिप विहंग-से
फैला कोमल, रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस, छुड़ा जड़ पंक;

विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अंक;
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनन्त उर में निःशंक।

कभी अचानक, भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क कड़क, जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;

फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार!

बुदबुद्-द्युति तारक-दल-तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम
हम विशाल जम्बाल-जाल-से
बहते हैं अमूल, अविराम;

दयमन्ती-सी कुमुद-कला के
रजत-करों में फिर अभिराम
स्वर्ण-हंस-से हम मृदु ध्वनि कर;
कहते प्रिय-सन्देश ललाम।

दुहरा विद्युद्दाम चढ़ा द्रुत,
इन्द्रधनुष की कर टंकार,
विकट पटह-से निर्घोषित हो,
बरसा विशिखों-सा आसार;

चूर्ण चूर्ण कर वज्रायुध से
भूधर को, अति भीमाकार
मदोन्मत्त वासव-सेना-से
करते हम नित वायु-विहार।

व्योम-विपिन में जब वसन्त-सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम सब अनिल-स्रोत में
गिर तमाल-तम के-से पात;

उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात,
फैल स्वर्ण-पंखों से हम भी
करते द्रुत मारुत से बात।

धीरे धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा से निशि भोर;

इन्द्रचाप सी व्योम-भृकुटि पर
लटक मौन चिन्ता-से घोर,
घोष भरे विप्लव-भय-से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर।

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन पल में, साकार—
काल-चक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जल-धार;

कभी हवा में महल बना कर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव-भूति ही-से निस्सार।

नग्न गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का-सा जाल
अम्बर के उड़ते पतंग को
उलझा लेते हम तत्काल;

फिर अनन्त-उर की करुणा से
त्वरित द्रवित होकर, उत्ताल
आतप में मूर्छित कलियों को
जाग्रत करते हिमजल डाल।

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल;

नभ में अवनि, अवनि में अंबर,
सलिल-भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल।

व्योम-बेलि, ताराओं की गति,
चलते-अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तन्द्रा,
ज्योत्स्ना के हिम शशि के यान;

पवन-धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल-अनल के विरल-वितान,
व्योम-पलक, जल-खग, बहते थल,
अम्बुधि की कल्पना महान।

(१९२२)

मुसकान

कहेंगे क्या मुझसे सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान !
रोकने पर भी तो सखि, हाय !
नहीं रुकती है यह मुसकान !

विपिन में पावस के-से दीप
सुकोमल, सहसा, सौ सौ भाव
सजग हो उठते नित उर बीच,
नहीं रख सकती तनिक दुराव !
कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान !

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव - नव - भाव
कभी बन हिमजल की लघु बूंद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण,
नहीं रुकती तब यह मुसकान !

कभी उड़ते-पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते फिर मुझको उस पार;
नहीं रखती मैं जग का ज्ञान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान !
रोकने पर भी तो सखि ! हाय,
नहीं रुकती तब यह मुसकान !

(१९२२)

अनेक गीतों में भी कवि ने स्वयं को बालिका और नारी के रूप में प्रस्तुत किया है।

३. इस गीत में प्रकृति के कोमल-रम्य एवं भयंकर दोनों ही रूप कवि को आकर्षित करते हैं। दोनों ही रूपों में वह उस असीम, अज्ञात, विराट सत्ता का आभास पाता है।

४. अनुभूति की सघनता संक्षिप्त, सशक्त एवं सरल भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है।

गूंज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन!

क्षुब्ध, जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन!

वाइस वियोगियों के हृदय में बसन्त के उद्दीपनकारी प्रभाव के कारण उत्पन्न कोमल भावनाओं के समान चतुर्दिक कोमल कुसुम अपनी सुगन्धि बिखेरते हुए खिल उठते हैं

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कण्ठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;

न जाने अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन !

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर-कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार;

न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुञ्जार;

न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में श्रमित अपार,
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण;

न जाने मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन

न जाने कौन, अये छबिमान,
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;

अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!

(१९२३)

अन्य ज्ञा

१. कवि निराशावादी है। इसीकारण उसका ध्यान जीवन और जगत की क्षणभंगुरता की ही ओर जाता है। उसने वसन्त और शिशिर, बचपन, यौवन और वृद्धावस्था वैभव की क्षणिकता के विभिन्न चित्र प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया है कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुख का ही प्राधान्य रहता है।

२. अनुभूति की तीव्रता एवं संवेदनशीलता ने इस कविता की प्रभविष्णुता को बहुत बढ़ा दिया है।

३. सम्भवतः इस कविता से चिर-कुमार कवि का प्रणय-वंचित हृदय अपनी असह्य वेदना से व्याकुल हो चीत्कार कर उठा है।

केंचुली, कांस सिवार;
गूंजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार!

(२)

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चांदनी रात,
और फिर अन्धकार, अज्ञात!

शिशिर सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल,

प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल!

मृदुल होठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर;
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गम्भीर!

शून्य साँसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर-मधुर संयोग;
मिलन के पल केवल दो-चार
विरह के कल्प अपार!

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय;
उठे-रोओं के आलिंगन
कसक उठते काँटों-से हाय!

(३)

किसी को सोने के सुख साज
मिल गये यदि ऋण भी कुछ आज;
चुका लेता दुख कल ही व्याज
काल को नहीं किसी की लाज!

विपुल मणि रत्नों का छवि जाल,
इंद्रधनु की सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत्-ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल;

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार!

उसी प्रकार काल अदृश्य रूप से सांसारिक वैभव को नष्ट कर देता है।

जिस प्रकार मोतियों के समान उज्ज्वल ओस की चमकीली बूँदों से भरी डार को पवन चुपचाप हिलाकर उन बूँदों को नीचे गिरा डाल की शोभा को नष्ट कर देता है उसी प्रकार काल अदृश्य रूप से सांसारिक वैभव को नष्ट कर देता है।

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण;
अभी उत्सव औ, हास हुलास,
अभी अवसाद, अश्रु, उच्छ्वास!

अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश;

सिसक उठता समुद्र का मन,
सिहर उठते उडगन!

(१९२४)

परिवर्तन

१. प्रस्तुत कविता में कवि पन्त का पलायनवादी स्वर उभर कर ऊपर आया है। कवि परिवर्तन से त्रस्त है। उसे चारों ओर विनाश और अशान्ति का साम्राज्य ही छाया हुआ दीखता है। कवि निराशावादी है इसलिये परिवर्तन के मूल में छिपे भावी विकास की वैज्ञानिक प्रक्रिया को नहीं समझ पाया है। ऐसी कवितायें कवि को निराशावादी और भाग्यवादी बना देती हैं।

२. कला की दृष्टि से इस कविता को उच्च कोटि की रचना मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं आपत्ति है इसके सन्देश से। काश कवि शिव के ध्वंसकारी रूप के मूल में छिपे कल्याण के स्वरूप को समझ सकता। शिव ध्वंस इसलिये करता है कि उसके भावी कल्याण की सृष्टि होती है। इसीलिये शिव को 'शिव' कहा गया है।

३. पन्त की यही एक कविता ऐसी है जिसमें प्रकृति का उग्र रूप दिखाई देता है। अन्यथा कवि पन्त प्रकृति के कोमल रूपों के चित्रों के रूप में ही अधिक विख्यात हैं।

४. छन्द-सौष्ठव, उपयुक्त शब्द-योजना ओज तथा भाषा की दृष्टि से इस कविता को उच्च कोटि की कलाकृति माना जा सकता है।

तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर सञ्चित !
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल,
वह्नि, बाढ़, भूकम्प, तुम्हारे विपुल सैन्य दल,
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल

हिल हिल उठता है टलमल
पद दलित धरातल !

(३)

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय सूचन;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण !

विपुल वासना, विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम, कुटिल काल कृमि-से घुस पल-पल;
तुम्हीं स्वेद सिञ्चित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषि फल !
अये, सतत ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ्मण्डल

नैश गगन सा सकल
तुम्हारा ही समाधि स्थल !

(४) जो रंग-बिरंगे मेघों के समान क्षण-स्थायी वैभव के स्वामी होते हैं

कठोर (४)
करुणारहित क्रोधयुक्त दृष्टि

यमराज
काल का अकरुण भृकुटि विलास (अनुप्रास)

तुम्हारे द्वारा मनुष्यों का उपहास मज़ाक करते।
तुम्हारा ही परिहास; हंसी-मज़ाक

संसार के कष्टों का इतिहास तुम्हारी कठोर करतूतों का इतिहास है।
विश्व का अश्रु पूर्ण इतिहास! आँसुओं से भरा
तुम्हारा ही इतिहास!

टेढ़ी नज़र — नाशक
एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयंकर

भयंकर प्रलयंकारी युद्ध छिड़ जाता है। (६)
प्रकृति, निरन्तर — आधारित
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर; शिखर
आकाश को चूमने वाला ऊँचा — महल
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, शृंग वर,
(x) वैभव — मेघों की घटाएँ
सांसारिक ऐश्वर्य
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडम्बर!—
दिशाओं और धरती का कम्पन
अये, एक रोमाञ्च तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
पोत — जलयान का बच्चा
पुनरुक्ति — जहाज़
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडगन; तारागण
जल पोतों से पक्षियों के झुण्ड
उमड़ हुआ सागर
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत शत फन, नागराज के सहस्रों लहरों रूपी फनों
सर्प — संकेत
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन!
दिशाओं का पिंजड़ा रूपक
बंधा हुआ — सिंह, हाथी
अद्भुत वस्तु चित्रण
दिक् पिञ्जर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन, विनीत मुख
वायु के आघात से व्याकुल
वाताहत हो गगन
समस्त पद में मानवीकरण
आकुल, दुःखी
आर्त करता गुरु गर्जन! भयंकर चिंघाड़

तुम्हारी भयंकरी लीलाओं से आकाश हाथी के सदृश चिंघाड़ता है

(५)

दुःखी — हाहाकार
जगत की शत कातर चीत्कार
तुम बहरे हो इसलिए इन करुण पुकारों को नहीं सुन पाते सोता, झरना
बहरे
वेधतीं बधिर! तुम्हारे कान!
अर्थात् परिवर्तन इतना निष्ठुर होता है कि उस पर संसार के प्राणियों की करुण चीत्कारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
विरोधाभास
अश्रु-स्रोतों की अगणित धार
पत्थर
हृदय
सींचतीं उर-पाषाण! पत्थर के समान कठोर हृदय को निरन्तर सींचती रहती है।

पुनरुक्ति प्रकाश
अरे क्षण क्षण सौ सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश!
उमड़ घुमड़ कर — आराम
चारों दिशाओं में
समस्त पद में मानवीकरण
चतुर्दिक् घहर घहर आक्रान्ति
ग्रस्त करती सुख शान्ति!

उद्धरण — सुख व शांति को [illegible]

तीस चारों दिशाओं में अशांति गरज गरज कर सुख और शांति को नष्ट करती रहती है (परन्तु तुम्हारे ऊपर इस सबका कोई प्रभाव नहीं पड़ता)

(६)

हाय री दुर्बल भ्रान्ति!
कहाँ नश्वर जगती में शान्ति?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति!
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है वहाँ विराम!

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन!

—यही तो है असार संसार,
सृजन, सिञ्चन, संहार!
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार;
उलूकों के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार;
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल!

(१९२४)

नित्य जग

१. इस कविता में कवि का दार्शनिक रूप उभर उभर आया है। उसकी इस दार्शनिक चिन्तन पद्धति में यद्यपि पूर्वा-पर क्रम का अभाव है परन्तु स्पष्टतः उस पर वेदान्त और उपनिषदों का प्रभाव है। प्रारम्भिक छन्दों में अद्वैत का प्रभाव दृष्टव्य है।

२. इस कविता के अन्तिम छन्दों में कवि की निराशा ने उसे पुनः आक्रान्त कर लिया है। 'अलम है इष्ट' आदि पंक्तियाँ उसकी इसी निराशा की अभिव्यंजना कर रही हैं। फिर भी मूल शक्ति के सच्चिदानन्द स्वरूप में कवि की दृढ़ आस्था दिखाई पड़ती है। इस आस्था के ही कारण कवि की निराशा 'निष्ठुर परिवर्तन' तथा 'अनित्य जग' का सा भयंकर रूप धारण नहीं कर पाई है। इसे कवि की आंशिक उपलब्धि माना जा सकता है।

बीज बोती अज्ञात !

म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलों में फलती फिर अम्लान,
महत् है, अरे, आत्म बलिदान,
जगत केवल आदान प्रदान!

(३)

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास;
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शान्त अम्बर में नील विकास;

वही उर-उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास;
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास!

विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मर्म मधुर झंकार!

(४)

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार;

स्वरों में ध्वनित मधुर सुकुमार
सत्य ही प्रेमोद्गार,
दिव्य सौन्दर्य, स्नेह साकार
भावनामय संसार!

Love is truth and truth is love
that is all he knows that
is all he needs to know

(५)

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार;
कहीं राखी बनता सुकुमार,
कहीं बेड़ी का भार!

(६)

कामनाओं के विविध प्रहार
छेड़ जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झंकार
स्फूर्ति करते संचार;

चूम सुख दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार!

पिघल होठों का हिलता हास
दृगों को देता जीवन दान,
वेदना ही में तप कर प्राण
दमक दिखलाते स्वर्ण हुलास!

तरसते हैं हम आठों याम,
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम;
झेलते निशि दिन का संग्राम,
इसी से जय अभिराम;

अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल!

(७)

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार;

दीन दुर्बल है रे संसार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार!

(८)

आज का दुख कल का आह्लाद,
और कल का सुख आज विषाद;
समस्या स्वप्न-गूढ़ संसार,
पूर्ति जिसकी उस पार;
जगत जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु, गति क्रम का ह्रास!

(९)

हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;

गँवाने आए हैं अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप!

(१९२४)

प्रार्थना

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन!
बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय धन;
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में
उर अंगों में सुख यौवन!
छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृण्मरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन!
बरसो सुख बन, सुषमा बन,
बरसो जग जीवन के घन!
दिशि दिशि में औ' पल पल में
बरसो संसृति के सावन!

(१९३०)

एक तारा

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।

पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर
ज्यों वीणा के तारों में स्वर।

खग कूजन भी हो रहा, लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजंग सा जिह्म क्षीण।

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गंभीर।

इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार,
ज्यों बेध रही हो आर-पार।

अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन।

गंगा के चल-जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।

लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर-शिशिर से डर।

तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग उड़ गया खोल निज पंख सुभग
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग !

मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल-कोमल
छाया तरु वन में तम श्यामल।

पश्चिम-नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमन्द नक्षत्र एक।

अकलुष अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक।

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिए हुए? किसके समीप?
मुक्तालोकित ज्यों रजत-सीप!

क्या उसकी आत्मा का चिर-धन, स्थिर अपलक-नयनों का चिंतन?
क्या खोज रहा वह अपनापन?

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन!

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन, विवेक!

चिर आकांक्षा से ही थर्-थर्, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर!

अविरत-इच्छा ही में नर्तन, करते अबाध रवि, शशि, उडगण,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन!

रे उडु, क्या जलते प्राण विकल! क्या नीरव-नीरव नयन सजल!
जीवन निसंग रे व्यर्थ, विफल!

एकाकीपन का अन्धकार, दुःसह है इसका मूक-भार,
इसके विषाद का रे न पार!

चिर अविचल पर तारक अमन्द!
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध!

वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन।

निष्कम्प-शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत-जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !

....

गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार,
हलका एकाकी व्यथा-भार !

जगमग-जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन !

(जनवरी, १९३२)

नौका बिहार

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल !
अपलक अनन्त, नीरव भू-तल !
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म-विरल,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !
तापस-बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल, लहर।

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित-सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर।

मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर, लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत-पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर।
कालाकाँकर का राज-भवन सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव - स्वप्न सघन।

नौका से उठती जल-हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।

विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर जल का अंतस्तल !

जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किए अविरल
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल पल ।

सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल ।

लहरों के घूँघट से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक-रुक ।

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार ।

दो बाँहों-से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर !

अति दूर क्षितिज पर विटप माल लगती भ्रू-रेखा सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल;

मा के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;

वह कौन विहग ? क्या विकल कोक उड़ता, हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक ।

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार ।

डाँड़ों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार ।

अ २–६

चाँदी के साँपों सी रलमल नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल-सरल।

लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ सौ शशि, सौ सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल।

अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह।

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार।

इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।

शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत-हास
शाश्वत लघु-लहरों का विलास।

हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार।

मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व-दान।

(१९३२)

अप्सरा —

इस कविता में कवि ने अप्सरा को पूर्णतः काल्पनिक रूप माना है। युगों से कवि अप्सरा के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनायें करते आये हैं। अप्सरा कुमारी सौन्दर्य की प्रतीक बन गई है। कवियों ने सौन्दर्य-विषयक अपनी सम्पूर्ण कल्पनाओं का प्रयोग कर इसके काल्पनिक व्यक्तित्व ने संसार के समस्त सौन्दर्य को समाविष्ट कर दिया है। इसी कारण कवि उसके रूप सौन्दर्य को विश्व व्यापी बना संसार के सम्पूर्ण सौन्दर्य की जननी इसे ही मानता है। परन्तु वस्तुतः वह पूर्ण काल्पनिक सौन्दर्य है। एक प्रकार से कवि अप्सरा को अखिल सौन्दर्यमय निराकार ब्रह्म ही घोषित कर रहा है।

२. इस कविता में कवि की सौन्दर्य-सम्बन्धी समस्त कल्पनायें अत्यन्त कलात्मक रूप धारण कर अभिव्यक्त हुई हैं। छायावादी काव्य-कला का पूर्ण निखार इस कविता में दिखाई पड़ता है जो अत्यन्त मनोरम, प्रभावक और रंजक है।

३. यह कविता सन् १९३२ की रचना है। इस समय कवि पर छायावादी कला का पूर्ण आधिपत्य है। परन्तु इसे आगे की कवितायें कवि के दृष्टिकोण में एक नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन का पूर्वाभास देती हैं। कवि छायावादी कल्पना के मनोरम काल्पनिक लोक से शनैः शनैः नीचे उतरता हुआ इस संसार के यथार्थ को अपनाता जा रहा है।

प्रवेश में बालक
कि कल्पनाओं
ता है। जिनमें
न परिपक्व होता
जनों ही इसमें
का सुन्दर कल्पना
र विश्वास नहीं
करता।

पूर्वाभास

छाया

न्म ही
ता है —
क जिस बालक
यनों में जैसे
लगी नहीं
स्वरूप उसका
ोस आगे चल कर
होती है।

चित्र नहीं बना है।

प्रथम रूप मदिरा से उन्मद
यौवन में उद्दाम
प्रेयसि के प्रत्यंग अंग से
लिपटी तुम अभिराम,
युवती के उर में रहस्य वन,
हरती मन प्रतियाम,
मृदुल पुलक मुकुलों से लद कर
देह लता छवि धाम!
इन्द्रलोक में पुलक नृत्य तुम
करती लघु पद भार
तड़ित् चकित चितवन से चंचल
कर सुर सभा अपार!
नग्न देह पर नव रँग सुरधनु
छायापट सुकुमार,
खोंस नील नभ की वेणी में
इंदु कुंद द्युति स्फार!

स्वर्गंगा में जल विहार तुम
करती बाहु मृणाल!
पकड़ पैरते इंदु बिम्ब के
शत शत रजत मराल!
उड़ उड़ नभ में शुभ्र फेन कण
बन जाते उडु-बाल,
सजल देह द्युति चल लहरों में
बिम्बित सरसिज माल!

रवि छवि चुम्बित चल जलदों पर
तुम नभ में उस पार,

लगा अंक से तड़ित् भीत शशि—
मृग - शिशु को सुकुमार,
छोड़ गगन में चंचल उडगन
चरण चिह्न लघु भार,
नागदंत नत इंद्रधनुष पुल
करती हो नित पार!

"कभी स्वर्ग की थी तुम अप्सरि,
अब बसुधा की बाल,
जग के शैशव के बिस्मय से
अपलक पलक प्रवाल!
बाल युवतियों की सरसी में,
चुगा मनोज्ञ मराल,
सिखलाती मृदु रोम हास तुम
चितवन कला अराल!

तुम्हें खोजते छाया वन में,
अब भी कवि विख्यात,
जब जग जग निशि प्रहरी जुगनू
सो जाते चिर प्रात;
सिहर लहर, मर्मर कर तरुवर,
तपक तड़ित् अज्ञात,
अब भी चुपके इंगित देते
गूँज मधुप, कवि भ्रात!

गौर-स्याम तन, बैठ प्रभा-तम,
भगिनी-भ्रात सजात,
बुनते मृदुल मसृण छायांचल
तुम्हें तन्वि! दिन रात;

स्वर्ण सूत्र से रजत हिलोरें
कंचु काढ़तीं प्रात,
सुरंग रेशमी पंख तितलियाँ
डुला सिरातीं गात!

तुहिन बिन्दु में इंदु रश्मि सी
सोई तुम चुपचाप,
मुकुल शयन में स्वप्न देखती
निज निरुपम छबि आप;
चटुल लहरियों से चल चुम्बित
मलय मृदुल पद चाप,
जलजों में निद्रित मधुपों से
करती मौनालाप!

नील रेशमी तम का कोमल
खोल खोल कचभार,
तार तरल लहरा लहराञ्चल,
स्वप्न-विकच स्तन हार;
शशिकर सी लघु पद, सरसी में
करती तुम अभिसार,
दुग्ध फेन शारद ज्योत्स्ना में
ज्योत्स्ना सी सुकुमार!

मेंहदी युत मृदु करतल छबि से
कुसुमित सुभग, सिंगार,
गौर देह द्युति हिम शिखरों पर
बरस रही साभार;
पद लालिमा उषा, पुलकित पर
शशि-स्मित घन सोभार,

उडु कंपन मृदु मृदु उर स्पंदन
चपल वीचि पद चार !
शत भावों के विकच दलों से
मंडित एक प्रभात
खिली प्रथम सौंदर्य पद्म सी
तुम जग में नवजात;
भृंगों-से अगणित रवि, शशि, ग्रह
गुंज उठे अज्ञात,
जगज्जलधि हिल्लोल विलोड़ित,
गंध अंध दिशि वात !

जगती के अनिमिष पलकों पर
स्वर्णिम स्वप्न समान,
उदित हुई थी तुम अनंत
यौवन में चिर अम्लान;
चंचल अंचल में फहरा कर
भावी स्वर्ण विहान,
स्मित आनन पर नव प्रकाश से
दीपित नव दिनमान !

सखि ! मानस के स्वर्ग वास में
चिर सुख में आसीन,
अपनी ही सुखमा में अनुपम,
इच्छा में स्वाधीन,
प्रति युग में आती हो रंगिणि !
रच रच रूप नवीन,
तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित अप्सरि !
त्रिभुवन भर में लीन !

सैंतालीस

अंग अंग अभिनव शोभा का
नव वसंत सुकुमार,
भृकुटि भंग नव नव इच्छा के
भृंगों का गुंजार;
शत शत मधु आकांक्षाओं से
स्पंदित पृथु उर भार,
नव आशा के मृदु मुकुलों से
चुंबित लघु पदचार!

निखिल विश्व ने निज गौरव
महिमा, सुखमा कर दान,
निज अपलक उर के स्वप्नों से
प्रतिमा कर निर्माण,
पल पल का विस्मय, दिशि दिशि की
प्रतिभा कर परिधान,
तुम्हें कल्पना औ' रहस्य में
छिपा दिया अनजान!
जग के सुख दुख, पाप ताप,
तृष्णा ज्वाला से हीन,
जरा - जन्म - भय - मरण - शून्य,
यौवनमयि, नित्यनवीन;
अतल - विश्व - शोभा - वारिधि - में
मज्जित जीवन मीन,
तुम अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी,
निज सुख में तल्लीन!

(फरवरी १९३२)

पतझर

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!
हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क-शीर्ण!
हिम - ताप- पीत, मधु-वात - भीत,
तुम वीत राग, जड़, पुराचीन!!

निष्प्राण विगत-युग! मृत विहंग!
जग-नीड़ शब्द औ' श्वास-हीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पंखों-से तुम
झर झर अनन्त में हो विलीन!

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव लाली!
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली!

मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव युग की प्याली!

(फरवरी '३४)

गा, कोकिल

गा, कोकिल, बरसा पावक कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन!
पावक पग धर आए नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!

गा, कोकिल, भर स्वर में कंपन!
झरें जाति कुल वर्ण पर्ण घन,
अंध नीड़-से रूढ़ि रीति छन,
व्यक्ति - राष्ट्र - गत - राग - द्वेष - रण,
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण!

गा, कोकिल, गा,—कर मत चिन्तन!
नवल रुधिर से भर पल्लव तन,
नवल स्नेह सौरभ से यौवन;
कर मंजरित नव्य जग जीवन,
गूँज उठें पी पी मधु सब जन!

गा, कोकिल नव गान कर सृजन!
रच मानव के हित नूतन मन,
वाणी, वेश, भाव नव शोभन,
स्नेह सुहृदता हो मानस धन,
करें मनुज नव जीवन यापन!

गा, कोकिल, सन्देश सनातन!
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन,
वह न देह का नश्वर रज कण!
देश काल हैं उसे न बंधन,
मानव का परिचय मानवपन!
कोकिल, गा, मुकुलित हों दिशि क्षण!

(अप्रैल '३५)

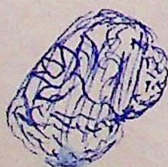
सृष्टि

मिट्टी का गहरा अन्धकार,
डूबा है उसमें एक बीज,——
वह खो न गया, मिट्टी न बना,
कोदों, सरसों से क्षुद्र चीज़ !

उस छोटे उर में छिपे हुए
हैं डाल-पात औ' स्कन्ध-मूल,
गहरी हरीतिमा की संसृति,
बहु रूप-रंग, फल और फूल !

वह है मुट्ठी में बन्द किए
वट के पादप का महाकार,
संसार एक ! आश्चर्य एक !
वह एक बूंद, सागर अपार !

बन्दी उसमें जीवन-अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बन्धन,——
पाने को है निज सत्व,——मुक्ति !
जड़ निद्रा से जग, बन चेतन !



आः भेद न सका सृजन रहस्य
कोई भी ! वह जो क्षुद्र पोत,
उसमें अनन्त का है निवास,
वह जग जीवन से ओत प्रोत !

मिट्टी का गहरा अन्धकार
सोया है उसमें एक बीज,—
उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह अमर पुत्र! वह तुच्छ चीज़?

(मई '३५)

मानव

१. यह कविता कवि के चिन्तन में हुये स्वस्थ परि[illegible] की परिचायक है। कवि छायावाद की काल्पनिक वायवीय दुनिया का मोह त्याग यथार्थ जगत की अदम्य शक्ति और सौन्दर्य से प्रभावित हो उठा है। कवि के इस यथार्थवादी दृष्टिकोण ने ही उसे प्रगतिशील बनाया था। इसमें आल्हाद का स्वर अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ झंकृत हो रहा है। अतीत का निराशावादी कवि आशा और विश्वास से भर उद्बोधन-गीत गा उठा है।

२. इस कविता का वास्तविक महत्त्व तभी समझा जा सकता है जब इसे कवि की 'वीणा-ग्रन्थि-पल्लव' युग की काल्पनिक सौन्दर्य और निराशा से भरी कविताओं के साथ रख कर पढ़ा जाय।

यौवन की मांसल, स्वस्थ गन्ध,
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग!
आह्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल,
आः प्रथम-प्रेम का मधुर स्वर्ग!
आशाभिलाष, उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,
विश्वास, असद्-सद् का विवेक,
दृढ़ श्रद्धा, सत्य-प्रेम अक्षय!

मानसी भूतियाँ ये अमन्द,
सहृदयता, त्याग सहानुभूति,
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति स्वर्गीय,—स्वभाव-पूर्ति !

मानव का मानव पर प्रत्यय,
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक, एक सब में प्रकाश !
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव !

(अप्रैल '३५)

ताज

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन,
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
स्फटिक-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन !
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति !
आत्मा का अपमान; प्रेत औ' छाया से रति !
प्रेम-अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
युग युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किए हुए घर !
भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर ?

(अक्तूबर '३५)

क्षीणवादी यथार्थवादी कविता

दो लड़के

मेरे आँगन में, (टीले पर है मेरा घर)
दो छोटे-से लड़के आ जाते हैं अकसर !
नंगे तन, गदबदे, साँवले, सहज छबीले,
मिट्टी के मटमैले पुतले,—पर, फुर्तीले।
जल्दी से, टीले के नीचे, उधर, उतर कर
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर—
सिगरेट के ख़ाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फ़ीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली पीली
मासिक पत्रों के कवरों की; औ' बन्दर से
किलकारी भरते हैं, ख़ुश हो-हो अन्दर से।
दौड़ पार आँगन के फिर हो जाते ओझल
वे नाटे छः सात साल के लड़के मांसल !
सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन-मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन।
मानव के बालक हैं ये पासी के बच्चे,
रोम रोम मानव, साँचे में ढाले सच्चे।
अस्थि-मांस के इन जीवों का ही यह जग घर,
आत्मा का अधिवास न यह,—वह सूक्ष्म, अनश्वर !
न्योछावर है आत्मा नश्वर रक्त - मांस पर,
जग का अधिकारी है वह, जो है दुर्बलतर।
वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू-पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर !
निष्ठुर है जड़ प्रकृति, सहज भंगुर जीवित जन,
मानव को चाहिए यहाँ मनुजोचित साधन।
क्यों न एक हो मानव मानव सभी परस्पर
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर ?

जीवन का प्रासाद उठे भू-पर गौरवमय,
मानव का साम्राज्य बने,—मानव हित निश्चय।
जीवन की क्षण-धूलि रह सके जहाँ सुरक्षित,
रक्त मांस की इच्छाएँ जन की हों पूरित।
मनुज प्रेम से जहाँ रह सकें,—मानव ईश्वर!
और कौन सा स्वर्ग चाहिए तुझे धरा पर?

(१९३८)

झंझा में नीम

सर् सर् मर् मर्
रेशम के-से स्वर भर,
घने नीम दल
लम्बे, पतले, चंचल,
श्वसन - स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रति पल!
वृक्ष शिखर से भू-पर
शत शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा, लो, निर्झर,
मरुत,—कम्प, अर!
झूम झूम झुक झुक कर,
भीम नीम तरु निर्झर
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर् मर्
चर् मर् !
लिप पुत गए निखिल दल
हरित गुञ्ज में ओझल,
वायु वेग से अविरल
धातु-पत्र-से बज कल!
खिसक, सिसक, साँसें भर,
भीत पीत कृश निर्बल,
नीम दल सकल
झर झर पड़ते पल पल!

(१९३८)

बापू

किन तत्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को ?
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को ?
सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जाएगा जग जीवन ?
आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता ?
प्रेम शक्ति से चिर निरस्त हो जाएगी पाशवता ?

बापू ! तुमने सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण !
भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान !
नहीं जानता, युग विवर्त में होगा कितना जन क्षय,
पर, मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय !
नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य
मानव आत्मा को उबारने आए तुम अनिवार्य !

युग उपकरण

वह जीवित संगीत, लीन हो जिसमें जग जीवन संघर्ष,
वह आदर्श, मनुज स्वभाव हो जिसका दोष-शुद्ध निष्कर्ष!
वह अन्तःसौंदर्य, सहन कर सके बाह्य वैरूप्य विरोध,
सक्रिय अनुकंपा, न घृणा का करे घृणा से जो परिशोध!

नम्र शक्ति वह, जो सहिष्णु हो, निर्बल को बल करे प्रदान,
मूर्त प्रेम, मानव मानव हों जिसके लिए अभिन्न, समान;
वह पवित्रता, जगती के कलुषों से जो न रहे संत्रस्त,
वह सुख, जो सर्वत्र सभी के सुख के लिये रहे संन्यस्त!

ललित कला, कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण,
वह दर्शन-विज्ञान, मनुजता का हो जिससे चिर कल्याण!
वह संस्कृति, भव मानवता का जिसमें विकसित भव्य स्वरूप,
वह विश्वास, सुदुस्तर भवसागर में जो चिर ज्योति स्तूप!

रीति नीति, जो विश्व प्रगति में बनें नहीं जड़ बंधन पाश,
ऐसे उपकरणों से हो भू मानवता का पूर्ण विकास!

(१९३८)

रूप सत्य

मुझे रूप ही भाता।
प्राण! रूप ही मेरे उर में
मधुर भाव बन जाता।
मुझे रूप ही भाता।

जीवन का चिर सत्य
नहीं दे सका मुझे परितोष,
मुझे ज्ञान से वस्तु सुहाती,
सूक्ष्म बीज से कोष!

सच है, जीवन के वसन्त में
रहता है पतझार
वर्ण गंधमय कलि कुसुमों का
पर, ऐश्वर्य अपार!

राशि राशि सौन्दर्य, प्रेम,
आनंद, गुणों का द्वार
मुझे लुभाता रूप रंग
रेखाओं का संसार!

मुझे रूप ही भाता!
प्राण! रूप का सत्य
रूप के भीतर नहीं समाता!
मुझे रूप ही भाता!

(१९३८)

पलाश के प्रति

प्राप्त नहीं मानव जग को यह मर्मोज्वल उल्लास
जो कि तुम्हारी डाल डाल पर करता सहज विलास !
आज प्रलय ज्वाला में ज्यों गल गए विश्व के पाश,
जीवन की हिल्लोल लोल उमड़ी छूने आकाश।
आकांक्षाएं अखिल अवनि की हुईं पूर्ण उन्मुक्त,
यह रक्तोज्वल तेज धरा के जीवन के उपयुक्त !
उद्भिज के जीवन विकास में हुआ नवीन प्रभात,
तरुओं का हरितांधकार हो उठा ज्योति अवदात !

नव जीवन का रुधिर शिराओं में कर वहन, पलाश,
तृण तरु जग से मानव जग में तुमने भरा प्रकाश !
यह शोभा, यह शक्ति, दीप्ति यह यौवन की उद्दाम,
भरती मन में ओज, दृगों को लगती प्रिय, अभिराम !
जीवन की आकांक्षाओं का यह सौन्दर्य अमंद,
मानव भी उपभोग कर सके, मुक्त, स्वस्थ आनंद !

(१९३८)

वाणी

वाणी वाणी
जीवन की वाणी दो मुझको भास्वर!
मौन गगन को भेद
बोलते जिस वाणी में उडुचर,
जिसमें नीरव गिरि से निःसृत
होते मुखरित निर्झर!

जिस वाणी में मेघ गरजते,
लहरा उठते सागर,
जिसमें नित दामिनी दमकती,
मोर नाचते सुन्दर!

वाणी वाणी
मुझे वस्तु वाणी दो पूर्ण चिरंतन!
जिस वाणी में छू मलयानिल
पुलकों से भरता तन,
जिसमें मृदु मुख कुसुम खोलते,
अणु अणु करते नर्तन!

जिस वाणी में क्षुधा, तृषा
औ' काम दीप्त करते तन,
जिसमें इच्छा, सुख दुख उठते
आते शैशव, यौवन!

वाणी वाणी
मुझे सृष्टि की वाणी दो अविनश्वर!

जो बहु वर्ण, गंध, रूपों में
करती सृजन निरंतर
जिस वाणी में अनुभव करते
चुपके निखिल चराचर!

जो वाणी चिर जन्म मरण,
तम औ' प्रकाश से है पर,
जो वाणी जीवन की जीवन,
शाश्वत, सुन्दर, अक्षर!
वाणी वाणी
मुझको दो घट घट की वाणी के स्वर!

(१९३८)

ग्राम कवि

यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन!

यहाँ नहीं शब्दों में बँधती
आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में
सुन्दरता को करना संचित!

यहाँ धरा का मुख कुरूप है,
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुन्दरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर हो क्षुब्ध, नग्न तन?–

जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन
पशु-जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ों-से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन!

सुलभ यहाँ रे कवि को जग में
युग का नहीं सत्य शिव सुन्दर,
कँप कँप उठते उसके उर की
व्यथा विमूर्छित वीणा के स्वर!

(१९४०)

वे आँखें

अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन!
अह, अथाह नैराश्य, विवशता का
उनमें भीषण सूनापन,
मानव के पाशव पीड़न का
देती वे निर्मम विज्ञापन!

फूट रहा उनसे गहरा आतंक,
क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम,
डूब कालिमा में उनकी
कँपता मन, उनमें मरघट का तम!
ग्रस लेती दर्शक को वह
दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन,
झूल रहा उस छाया-पट में,
युग युग का जर्जर जन जीवन।

वह स्वाधीन किसान रहा
अभिमान भरा आँखों में इसका,
छोड़ उसे मँझधार आज
संसार कँगार सदृश वह खिसका!
लहराते वे खेत दृगों में
हुआ बेदखल वह अब जिनसे,
हँसती थी उसके जीवन की
हरियाली जिनके तृन-तृन से!

आँखों ही में घूमा करता
वह उसकी आँखों का तारा,
कारकुनों की लाठी से जो
गया जवानी ही में मारा!
बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी,
रह रह आँखों में चुभती वह
कुर्क हुई बरधों की जोड़ी!

उजरी उसके सिवा किसे कब
पास दुहाने आने देती?
अह, आँखों में नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती!
बिना दवा दर्पन के गृहिनी
स्वरग चली, आँखें आतीं भर,
देख रेख के बिना दुधमुही
बिटिया दो दिन बाद गई मर!

घर में बिधवा रही पतोहू,
लछमी थी, यद्यपि पति घातिन,
पकड़ मँगाया कोतवाल ने,
डूब कुएँ में मरी एक दिन!
खैर, पैर की जूती, जोरू
एक न सही, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती!

पिछले सुख की स्मृति आँखों में
क्षण भर एक चमक है लाती,

तुरत शून्य में गड़ वह चितवन,
तीखी नोंक सदृश बन जाती!
मानव की चेतना न ममता
रहती तव आँखों में उस क्षण,
हर्ष शोक, अपमान ग्लानि,
दुख दैन्य न जीवन का आकर्षण!

उस अवचेतन क्षण में मानो
वे सुदूर करतीं अवलोकन
ज्योति तमस के परदों पर
युग जीवन के पट का परिवर्तन!
अंधकार की अतल गुहा सी
अह, उन आँखों से डरता मन,
वर्ग सभ्यता के मंदिर के
निचले तल की वे वातायन!

(१९४०)

 विश्व प्रेम कविता

(1957)

भारत माता
ग्राम वासिनी !
खेतों में फैला दृग श्यामल
शस्य भरा जनजीवन आँचल
गंगा यमुना में शुचि श्रम जल
शील मूर्ति
सुख दुख उदासिनी !

स्वप्न मौन, प्रभु पद नत चितवन
ओठों पर हँसते दुख के क्षण,
संयम तप का धरती सा मन,
स्वर्ग कला
भू पथ प्रवासिनी !

तीस कोटि सुत, अर्ध नग्न तन,
अन्न वस्त्र पीड़ित, अनपढ़ जन,
झाड़ फूँस खर के घर आँगन,
प्रणत शीश
तरुतल निवासिनी !

विश्व प्रगति से निपट अपरिचित
अर्ध सभ्य, जीवन रुचि संस्कृत,
रूढ़ि रीतियों से गति कुंठित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी !

सदियों का खँडहर, निष्क्रिय मन
लक्ष्य हीन, जर्जर जन जीवन,
कैसे हो भू-रचना नूतन,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !

पंचशील रत, विश्व शांति व्रत,
युग युग से गृह आँगन श्रीहत
कब होंगे जन उद्यत जाग्रत ?
सोच मग्न
जीवन विकासिनी !

उसे चाहिए लौह संगठन
सुन्दर तन, श्रद्धा दीपित मन,
भव जीवन प्रति अथक समर्पण,
लोक कलामयि,
रस विलासिनी !

(१९५७)

कहारों का रुद्र नृत्य

रंग रंग के चीरों से भर अंग, चीरवासा-से
दैन्य शून्य में अप्रतिहत जीवन की अभिलाषा - से
जटा घटा सिर पर, यौवन की श्मश्रु छटा आनन पर,
छोटी बड़ी तूँबियाँ, रँग रँग की गुरियाँ सज तन पर,
हुलस नृत्य करते तुम, अटपट धर पटु पद, उच्छृंखल
आकांक्षा से समुच्छ्वसित जन मन का हिला धरातल !

फड़क रहे अवयव, आवेश-विवश मुद्राएँ अंकित
प्रखर लालसा की ज्वालाओं सी अंगुलियाँ कंपित
ऊष्ण देश के तुम प्रगाढ़ जीवनोल्लास-से निर्भर
बर्हभार उद्दाम कामना के-से खुले मनोहर !
एक हाथ में ताम्र डमरू धर, एक शिवा की कटि पर,
नृत्य तरंगित रुद्ध पूर-से तुम जन मन के सुखकर !

वाद्यों के उन्मत्त घोष से, गायन स्वर से कंपित
जन इच्छा का गाढ़ चित्र कर हृदय पटल पर अंकित,
खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में क्षण भर,
जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखला कर !
युग युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अंतर
जन मानस गौरव पर विस्मित : मैं भावी चिन्तन पर !

(१९३९)

खिड़की से

पूस : निशा का प्रथम प्रहर : खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्र वन सोया : क्षण भर
दिन का भ्रम होता : पूनो ने तृण तरुओं पर पूर्णिमा
चाँदी मढ़ दी है, भू को स्वप्नों से जड़ कर !
चारु चन्द्रिकातप से पुलकित निखिल धरातल
चमक रहा है, ज्यों जल में बिम्बित जग उज्ज्वल ! उदाहरण अलंकार

स्पष्ट दीखते, खिड़की की जाली में विजड़ित
कटहल, लीची, आम,–घूक गेंदूर से कंपित,
फाटक औ हाते के खंभे बगिया के पथ,
आधी जगत कुएँ की, कुरिया की छाजन श्लथ,
अस्पताल का भाग, मेहराबें, दरवाजे,
स्फटिक सदृश जो चमक रहे चूने से ताजे !
औ टेढ़ी-मेढ़ी दिगंत रेखा के ऊपर
पास पास दो पेड़ ताड़ के खड़े मनोहर !

आधी खिड़की पर अगणित ताराओं से स्मित
हरित धरा के ऊपर नीलांबर छायांकित;
कचपचिया (कृत्तिका) सामने शोभित सुंदर
मोती के गुच्छे सी : भरणी ज्यों त्रिकोण वर !
पास रोहिणी, प्रिय मिलनातुर, बाँह खोल कर,
सेंदुर की बेंदी दे, जुड़ुओं को गोदी भर !
लुब्ध दृष्टि लुब्धक समीप ही, छोड़ रहा शर
आदि काल से मृग पर : मृगशिर सहज मनोहर !

उधर जड़े पुखराज लाल-से गुरु और मंगल
साथ-साथ, जिनमें अवश्य गुरू सबसे उज्ज्वल !

हस्ता है प्रत्यक्ष : कठिन वृश्चिक का मिलना,
वह शायद आर्द्रा, कहता हिमजल सा हिलना !
ज्योति फेन सी स्वर्गंगा नभ बीच तरंगित,
परियों की माया सरसी सी छायालोकित,
ज्वलित पुंज ताराओं के वाष्पों से सस्मित,
नीलम के नभ में रत्नप्रभ पुल सी निर्मित !

खोज रहा हूँ कहाँ उदित सप्तर्षि गगन में
अरुंधती को लिए साथ, विस्मित से मन में !
प्रश्न चिह्न-से जो अनादि से नभ पर अंकित,
उत्तर में स्थित ध्रुव की ओर किये चिर इंगित,
पूछ रहे हों संसृति का रहस्य ज्यों अविदित,
क्या है वह ध्रुव सत्य ? गहन नभ जिससे ज्योतित !

ज्योत्स्ना में विकसित सहस्रदल भू पर अंबर
शोभित ज्यों लावण्य स्वप्न अपलक नयनों पर !
यह प्रतिदिन का दृश्य नहीं, छल से वातायन
आज खुल गया अप्सरियों के जग में मोहन !
चिर परिचित माया बल से बन गए अपरिचित
निखिल वास्तविक जगत कल्पना से ज्यों चित्रित !
आज असुंदरता कुरूपता जग से ओझल
सब कुछ सुंदर ही सुंदर, उज्ज्वल ही उज्ज्वल !

एक शक्ति से, कहते, जग प्रपंच यह विकसित,
एक ज्योति कर से समस्त जड़ चेतन निर्मित;
सच है यह, आलोक पाश में बँधे चराचर
आज आदि कारण की ओर खींचते अंतर !

क्षुद्र आत्म-पर भूल भूत सब हुए समन्वित,
तृण तरु से तारालि सत्य है एक अखंडित;
मानव ही क्यों इस असीम समता से वंचित ?
ज्योति भीत, युग युग से तमस विमूढ़, विभाजित !

(१९४०)

संस्कृति का प्रश्न

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सम्मुख,
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव-जीवन के दुःख !
व्यर्थ सकल इतिहासों, विज्ञानों का सागर मंथन,
वहाँ नहीं युग लक्ष्मी, जीवन सुधा, इन्दु जन मोहन !
आज बृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खंड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित;
विविध जाति, वर्गों धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता में विकसित !

जग जीवन के अन्तर्मुख नियमों से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित;
बाह्य चेतनाओं में उसके क्षोभ क्रांति उत्पीड़न,
विगत सभ्यता दंत-शून्य फणि सी करती युग नर्तन !
व्यर्थ आज राष्ट्रों का विग्रह औ तोपों का गर्जन,
रोक न सकते जीवन की गति शत विनाश आयोजन !
नव प्रकाश में तमस युगों का होगा स्वयं निमज्जित,
प्रतिक्रियाएँ विगत गुणों की होंगी शनैः पराजित !

(१९४०)

संस्कृति :- संस्कृति आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक सिद्धियों से सम्बद्ध है। संस्कृति लोगों के आन्तरिक तथा मानसिक उन्नति की परिचायक होती है

विनय

विज्ञान ज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म,
संकल्प कर सकें जन, इच्छा अनुरूप कर्म!
उपचेतन मन पर विजय पा सके चेतन मन,
मानव को दो यह शक्ति, पूर्ण जग के कारण!
मनुजों की लघु चेतना मिटे, लघु अहंकार,
नव युग के गुण से विगत गुणों का अंधकार;
हो शांत जाति विद्वेष, वर्ग गत रक्त समर,
हों शांत युगों के प्रेत, मुक्त मानव अन्तर!
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय, सुंदर,
संयुक्त कर्म पर विश्व एकता हो निर्भर;
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव, हो जीवन का निर्माण काज!
हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग, जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु! भव मानवता का वर!

(१९४०)

सम्मोहन

जादू बिछा दिया जन भू पर!
तुमने सोने की किरणों की
जीवन हरियाली बो बो कर!
फूलों से उड़ फूल, रँगों से
निखर सूक्ष्म रँग उर के भीतर
बुनते स्वप्न मधुर सम्मोहन
स्वर्ण रुधिर से अंतर थर् थर्!
स्पंदित आज हृदय कण कण में
भाषा बनी द्रुमों की मर्मर,
लहरें उर पर देतीं आँचल,
कमल मुखों से जीवित-से सर;
प्रणय दृष्टि दी मुग्ध दृगों को,
प्राणों में संगीत दिया भर,
स्वर्ण कामना का नव घूँघट
डाल धरा के मुख पर सुंदर!
निज जीवन का कटु संघर्षण
भूल गया अब मानव अंतर
जग जीवन के नव स्वप्नों की
ज्योति वृष्टि में अमर स्नान कर!
स्वर्ण जाल में तुमने जीवन
लिपटा लिया, हृदय में हँसकर,
मर्म प्रीति का झरना अविरल
इन प्राणों में स्वर्णिम निर्झर!
स्वर्ग धरा को बाँध पाश में
स्वर्ण चेतना के चिर सुखकर
स्वप्नों को तुमने जीवन की
देही दे दी, मर्त्य शोक हर!

(१९४६)

हिमाद्रि

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण-से
घेरे मेरे जीवन के क्षण!
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन,
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन!

कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित
शुभ्र शांति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुंदरता के भूभृत!
बाल्य चेतना मेरी तुम में
जड़ीभूत आनंद तरंगित,
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
महाश्चर्य से मेरी विस्मित!

जिन शिखरों को स्वर्ण किरण नित
ज्योति मुकुट से करती मंडित,
जिन पर सहसा स्खलित तड़ित्
हो उठती निज आलोक से चकित!
जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा
सिन्धु ज्वार सी लगती स्तंभित,
जिनकी नीरवता में मेरे
गीत स्वप्न रहते थे झंकृत!

जिनकी शीतल ज्वाला में जल
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिनके
स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल!
हृदय चाहता काव्य कल्पना को
किरीट पहनाना उज्ज्वल
स्मृति में ज्योति तरंगित स्वर्गिक
शृंगों के आलोक का तरल!

वसुधा की महदाकांक्षा-से
स्वर्ग क्षितिज से भी उठ ऊपर
अंतर आलोकित-से स्थित तुम
अमरों का उल्लास पान कर!
उरोभार - से गौर धरणि के,
सोया स्वर्ग शीश धर जिस पर,
तुम भारत के शाश्वत गौरव
प्रहरी से जागरित निरंतर!

रवि की किरणें जिसे स्पर्श कर
हो उठतीं आलोक निनादित,
जिस पर ऊषा संध्या की छवि
आदि सृष्टि सी ही स्वर्णांकित;
इन्दु ज्वलित तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरोदधि - से हिल्लोलित
ज्योत्स्ना में थे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक - से लगते मोहित!

सुरँग प्रवालों की रत्नश्री
अहरह रहती जहाँ मर्मरित
देवदारु की चारु सूचि से
मरकत तलहटियाँ रोमांचित;
मौन स्वर्ग मुख पर अंकित तुम
शुचि दिगंत स्मिति से चिर शोभित
आदि तत्व-से, अपनी ही शोभा,
विलोक रहते अनिमेषित !

नीली छायाएँ थीं तन पर
लगतीं आभा की-सी सिकुड़न,
इंद्रधनुष मंडल से दीपित,
उड़ते थे शत हँसमुख हिमकण !
स्वर्दूतों के पंखों-से स्मित
तड़ित् चकित हिम के रोमिल घन
रंगों से वेष्टित रखते थे
तुमको, हे आलोक निरंजन !

प्रति वत्सर आती थी मधुऋतु
सद्यः स्फुट देही ले कुसुमित
चीर रश्मियों को, फूलों के
अंगों पर निज कर शत रंजित !
खुलती पंखड़ियों की कंचुक
सौरभ श्वासों से थी स्पंदित,
मेरे शैशव को नित उसकी
गीत कोकिला रखती कूजित !

कलरव स्वप्नातप, सुरधुन पट,
शशि मुख, हिम स्मिति, गात्र ले श्वसित
षडऋतु करती थीं परिक्रमा
अप्सरियों सी सुरपति प्रेषित!
शरद चंद्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित,
हिम की परियों का अंचल उड़
भू को कर लेता था परिवृत!

रंग रंग के चित्रित पक्षी
उड़ते नभ में गीत तरंगित,
नील पीत भृंगों का गुंजन
मौन क्षणों को रखता मुखरित;
ऊष्मा का सूर्यातप तुम में
लगता शीतलता सा मूर्तित,
इंद्रचाप पुल पर, वर्षा में
सुरबालाएँ आ जातीं नित!

जग प्रच्छाय गुहाओं में, नव
वाष्पों के गज भरते गर्जन,
चंचल विद्युत् लेखाएँ थीं
लिपट दृगों से जातीं तत्क्षण;
ताराओं के साथ सहज
शैशव स्वप्नों से भर जाता मन,
उठते थे तुम अंतर में
सौन्दर्य स्वप्न शृंगों पर मोहन!

मेघों की छाया के सँग-सँग
हरित घाटियाँ चलतीं प्रतिक्षण
वन के भीतर उड़ता चंचल
चित्र तितलियों का कुसुमित वन!
रँग-रँग के उपलों पर रणमण
उछल उत्स करते कल गायन,
झरनों के स्वर जम-से जाते
रजत हिमानी सूत्रों में घन!

भीम विशाल शिलाओं का वह
मौन, हृदय में अव तक अंकित,
फेनों के जल स्तंभों-से वे
निर्झर रभस वेग से मुखरित;
चीड़ों के तरु वन का तम
साँसें भरता मन में आंदोलित,
दरियों की गहरी छायाएँ
ज्योतिरिंगणों से थीं गुंफित!

गाते उर में क्षिप्र स्रोत,
लहराते सर तुषार के निर्मल,
सौरभ की गुंजित अलकों से
छू समीर उर करता शीतल;
नीली पीली हरी लाल
चपलाओं का नभ जगता चंचल,
रजत कुहासे में, क्षण में,
माया प्रांतर हो जाता ओझल!

संभव, पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर मिथुनों से हों कूजित
छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रति सौरभ से सतत उच्छ्वसित;
औषधियाँ जल जल दरियों के
स्वप्न कक्ष करतीं हों दीपित,
ओसों के वन में मिलते हों
स्तन हारों के मुक्ताफल स्मित !

मदन दहन की भस्म अनिल में
उड़ अब तक तन करती पुलकित,
सती अपर्णा के तप से
वनश्री अवाक् सी लगती विस्मित,
अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख-सी लज्जित,
बढ़ती चंद्र कला भी गिरिजा सी
ही गिरि के क्रोड़ में उदित !

अब भी वही वसंत विचरता
पुष्प शरों से भर दिगंत स्मित,
गंधोद्दाम धरा वह ही, पाषाण
शिलाएँ पुलक पल्लवित !
अब भी प्रिय गौरा का शैशव
वर्णन करते खग पिक मुखरित,
देवदारु के ऊर्ध्व शिखर
वैसे ही शंकर-से समाधि स्थित !

अभी उतरता कूर्म सानु पर
वप्र क्रीड़ा परिणत गज घन,
वातायन से मंद स्तनित कर
देता कवि संदेश आर्द्र स्वन!
अब भी अलकें उठा देखतीं
ग्राम वधू उसको सरल नयन,
शुभ्र बलाकों के दल नभ में
कल ध्वनि भर करते अभिवादन!

आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित क्षुब्ध उपेक्षित,
देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित;
सोच रहा, किसके गौरव से
मेरा यह अंतर जग निर्मित,
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि,
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित!

और, पूछता मैं मन से, क्या
यह धरती रह सकती जीवित
जो तुम स्वर्गिक गरिमा भू पर
बरसाते रहते न अपरिमित?
शिखर शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव आत्मा कर दी ज्योतित,
हे असीम आत्मानुभूति में
लीन, ज्योति शृंगों के भूभृत!

घनीभूत अध्यात्म तत्त्व-से
जिससे ज्योति सरित शत निःसृत,
प्राणों की हरियाली से स्मित
पृथ्वी तुमसे महिमा मंडित;
स्फटिक सौध-से श्री शोभा के
रश्मि रेख शृंगों से कल्पित,
स्वर्ग खंड तुम इस वसुधा पर,
पुण्य तीर्थ हे, देव प्रतिष्ठित!

(१९४६)

द्वा सुपर्णा

दो पक्षी हैं : सहज सखा, संयुक्त निरंतर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर!
एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन दूसरा देखता अंतर्लोचन!
दो सुहृदों-से मर्त्य अमर्त्य सयोनिज होकर
भोगेच्छा से ग्रसित भटकते नीचे ऊपर;
सदा साथ रह, लोक लोक में करते विचरण,
ज्ञात मर्त्य सबको, अज्ञात अमर्त्य चिरंतन!

कहीं नहीं क्या पक्षी जो चखता जीवन फल,
विश्व वृक्ष पर नीड़, देखता भी है निश्चल;
परम अहम् औ द्रष्टा भोक्ता जिसमें सँग सँग,
पंखों में बहिरंतर के सब रजत स्वर्ण रँग!
ऐसा पक्षी, जिसमें हो संपूर्ण संतुलन
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन!
मानवीय संस्कृति रच भू पर शाश्वत शोभन
बहिरंतर जीवन विकास की जीवित दर्पण;
भीतर बाहर एक सत्य के रे सुपर्ण द्वय,
जीवन सफल उड़ान, पक्ष संतुलन जो विजय!

(१९४५)

ज्योति भारत

ज्योति भूमि,
जय भारत देश !
ज्योति चरण धर जहाँ सभ्यता
उतरी तेजोन्मेष !

समाधिस्थ सौन्दर्य हिमालय,
श्वेत शांति आत्मानुभूति लय,
गंगा यमुना जल ज्योतिर्मय
हँसता जहाँ अशेष !

फूटे जहाँ ज्योति के निर्झर
ज्ञान भक्ति गीता वंशी स्वर,
पूर्ण काम जिस चेतन रज पर
लोटे हँस लोकेश !

रक्त स्नात मूर्च्छित धरती पर
बरसा अमृत ज्योति स्वर्णिम कर,
दिव्य चेतना का प्लावन भर
दो जग को आदेश !

(१९४६)

छाया पट

मन जलता है,
अंधकार का क्षण जलता है,
मन जलता है!
मेरा मन तन बन जाता है,
तन का मन फिर कट कर,
छँट कर
कन कन ऊपर
उठ पाता है!
मेरा मन तन बन जाता है।

भीतर से बाहर, बाहर से भीतर
दोनों का अन्योन्याश्रित रूप

तन के मन के श्रवण नयन हैं,
जीवन से संबंध गहन हैं,
कुछ पहचाने, कुछ गोपन हैं,
जो सुख दुख के संवेदन हैं!
कब यह उड़ जग में छा जाता,
जीवन की रज लिपटा लाता,
घिर मेरे चेतना गगन में
इंद्रधनुष घन बन मुसकाता!
नहीं जानता, कब कैसे फिर
यह प्रकाश किरणें बरसाता!
बाहर भीतर ऊपर नीचे
मेरा मन जाता आता है,
सर्व व्यक्ति बनता जाता है! एक ही सब में समाता है।

तन के मन में कहीं अंतरित
आ[redacted] का [redacted]मन है चिर[redacted]ोतित,
ज्ञान का प्रतीक
उसी के भावानुसार
कार्य करता है।

नवाली

अ २–९

इन छाया दृश्यों को जो
निज आभा से कर देता जीवित;
यह आदान प्रदान मुझे
जाने कैसे, क्या सिखलाता है!
क्या है ज्ञेय? कौन ज्ञाता है!
मन भीतर बाहर जाता है!

मन जलता है
मन में तन में रण चलता है,
चेतन अवचेतन नित नव
परिवर्तन में ढलता है!
मन जलता है!

(१९४५)

सविता

लो, सविता आता सहस्रकर,
सविता, उज्ज्वल व्योम पृष्ठ पर,
नव्य रश्मियों से ज्योतिर्मय
अंतरिक्ष को आलोकित कर!
सप्त अश्व से सप्त लोक कर
पार, वेग में दिव्य तेज भर,
वह महेन्द्र आ रहा घिरा, निज
किरणों से त्रिभुवन का तम हर!

उठो, मनुष्यो, जागो, करो
उषाओं का दिव में अभिवादन,
मार्ग उन्होंने खोल दिया
सविता का, जो ज्योतिर्मय पूषण!
अंधकार हट गया, प्राणमय
नव जीवन हो रहा प्रवाहित,
वह महेन्द्र आ रहा, रश्मियों से
आभृत, प्रकाश से आवृत!

अंधरूढ़ि पर चलने वाले
आज पा गए हैं अभिनव पथ,
नव प्रकाश का सूर्य उन्हें
मिल गया, दमकता सप्त अश्व रथ!
स्वर्ग ओर नित धावमान, उस
दिव्य हंस के पंख ज्योतिमय
फैले हुए सहस्र दिनों से,
बढ़ता ही जाता वह निर्भय;

सब भुवनों को देखता हुआ,
देवों को ले हृदय में सकल,
व्याप्त सर्व लोकों में वह,
फैले अपार पंखों में दिशिपल !
हाउ हाउ, वह स्वर्ण पुरुष,
वह ज्योति पुरुष मैं हूँ अजर अमर,
झरते सप्त धार सोने के
सतत मातरिश्वा से निर्झर !

(१९४५)

वन्दे मातरम्

वन्दे मातरम् !
जन धरणीं जन भरणीं
रत्न प्रसविनीं मातरम् !
नृत्य हरित, पिक कूजित यौवन,
अनिल तरंगित उदधि जल वसन,
छत्र, सूर्य शशि दीप्त नत गगन,
प्रणयाकांक्षी स्वर्ग चिरंतन,
वन्दे मातरम् !

बजे क्रांति तूरी जन मादन,
कुडुम कुडुम हो जय दुंदुभि स्वन,
जीवन हित मानव वरे मरण,
मृत्यु अंक में भी गाएँ जन,
वन्दे मातरम् !

भू मन के टूटें जड़ बंधन,
रूढ़ि रीति से मुक्त बनें मन,
दैन्य दुरित के हटें तमस घन,
स्वर्ण प्रभात जड़ित हों प्रांगण,
वन्दे मातरम् !

दिशा लोक-श्रम से हों हर्षित,
काल, विश्व रचना में योजित,
भव संस्कृति में देश हों ग्रथित,
जन संपन्न, जगत मनुजोचित,
वन्दे मातरम् !

(१९४६)

सामंजस्य

भाव सत्य बोली मुख मटका,
तुम—मैं की सीमा है बन्धन,
मुझे सुहाता बादल-सा नभ में
मिल जाना, खो अपनापन!
ये पार्थिव संकीर्ण हृदय हैं,
मोल तोल ही इनका जीवन,
नहीं देखते एक धरा है,
एक गगन है, एक सभी जन!

बोली वस्तु सत्य मुँह बिचका,
मुझे नहीं भाता यह दर्शन,
भिन्न देह हैं जहाँ, भिन्न रुचि,
भिन्न स्वभाव, भिन्न सबके मन!
नहीं एक में भरे सभी गुण
द्वन्द्व जगत में हैं नारी नर
स्नेही द्रोही, मूर्ख चतुर हैं,
दीन धनी, कुत्सित औ सुन्दर!

आत्म सत्य बोली मुसका कर,
मुझे ज्ञात दोनों का कारण,
मैं दोनों को नहीं भूलती
दोनों का करती संचालन!
पंख खोल सपने उड़ जाते
सत्य न बढ़ पाता गिन गिन पग
सामंजस्य न यदि दोनों में
रखती मैं क्या चल सकता जग!

(१९४६)

पतिता

रोता हाय मार कर माधव,
वृद्ध पड़ोसी जो चिर परिचित,
क्रूर लुटेरे, हत्यारे—कर गए
बहू को, नीच, कलंकित!
फूटा करम! धरम भी लूटा!
शीश हिला, रोते सब परिजन
हा अभागिनी, हा कलंकिनी,
खिसक रहे गा-गा कर पुरजन!

सिसक रही सहमी कोने में
अबला साँसों की-सी ढेरी
कोस रहीं घेरे पड़ोसिनें
आँख चुराती घर की चेरी!
इतने में घर आता केशव,—
हा बेटा, कर दारुण रोदन,
माथा लेते पीट कुटुम्बी,
छिन्न लता सा कँप उठता तन!

सब सुन चुका! चीखता केशव,
बन्द करो यह रोना धोना,
उठो मालती, लील जायगा
तुमको घर का काला कोना!
मन से होते मनुज कलंकित,
रज की देह सदा से कलुषित,
प्रेम पतित पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित!

(१९४५)

आज़ाद

वृद्ध-संस्कृति

पैगंबर के एक शिष्य ने
पूछा, हज़रत, बन्दे को शक,
है आज़ाद कहाँ तक इंसाँ,
दुनिया में पाबंद कहाँ तक!
खड़े रहो! बोले रसूल तब,
अच्छा, पैर उठाओ ऊपर!
जैसा हुक्म! मुरीद सामने
खड़ा हो गया एक पैर पर!

ठीक, दूसरा पैर उठाओ,
बोले हँस कर नबी फिर तुरत,
बार बार गिर, कहा शिष्य ने,
यह तो नामुमकिन है हज़रत!
हो आज़ाद यहाँ तक, कहता
तुमसे एक पैर उठ ऊपर,
बँधे हुए दुनिया से कहता
पैर दूसरा अड़ा ज़मीं पर—
पैगंबर का था यह उत्तर!

(१९४५)

स्वप्न-बंधन

बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बन्धन में,
एक मधुर जीवित आभा सी लिपट गई तुम मन में !
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में !
तन की सौ शोभाएँ सम्मुख चलती फिरती लगतीं,
सौ सौ रंगों में, भावों में तुम्हें कल्पना रँगती,
मानसि, तुम सौ बार एक ही क्षण में मन में जगती !

तुम्हें स्मरण कर जी उठते यदि स्वप्न, आँक उर में छवि,
तो आश्चर्य, प्राण बन जाएँ गान ! हृदय प्रणयी कवि !
तुम्हें देख कर स्निग्ध चाँदनी भी जो बरसावे रवि !
तुम सौरभ सी सहज मधुर बरबस बस जाती मन में,
पतझर में लाती वसन्त, रस स्रोत विरस जीवन में,
तुम प्राणों में प्रणय, गीत बन जाती उर कंपन में !

तुम देही हो? दीपक लौ सी दुबली कनक छबीली,
मौन मधुरिमा भरी, लाज ही सी साकार लजीली,
तुम नारी हो? स्वप्न कल्पना सी सुकुमार सजीली !
तुम्हें देखने शोभा ही ज्यों लहरी सी उठ आई,
अंग भंगिमा, तनिमा बन, मृदु देही बीच समाई,
कोमलता कोमल अंगों में पहिले तन धर पाई !

फूल खिल उठे, तुम वैसी ही भू को दी दिखलाई,
सुन्दरता वसुधा पर खिल सौ सौ रंगों में छाई,
छाया सी ज्योत्स्ना सकुची, प्रतिछवि सी उषा लजाई !

तुम में जो लावण्य मधुरिमा, जो असीम सम्मोहन,
तुम पर प्राण निछावर करने पागल हो उठता मन,
नहीं जानती क्या तुम निज बल, निज अपार आकर्षण !
बाँध लिया तुमने प्राणों को प्रणय स्वप्न बन्धन में
तुम जानो, क्या तुमको भाया, मर्म छिपा क्या मन में !
इन्द्रधनुष बन कर हँसती तुम अश्रु वाष्प के घन में !

(१९४३)

गान्धी-युग

देख रहा हूँ, शुभ्र चाँदनी का सा निर्झर
गान्धी युग अवतरित हो रहा जन धरणी पर!
विगत युगों के तोरण, गुंबद, मीनारों पर
नव प्रकाश शोभा रेखाओं का जादू भर!
संजीवन पा जाग उठा हो राष्ट्र का मरण,
छायाएँ-सी आज चल रहीं भू पर चेतन—
जन मन में जग, दीप शिखा के पग धर नूतन
भावी के नव स्वप्न धरा पर करते विचरण!

सत्य अहिंसा बन अन्तर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते धरती के व्रण!
झुका तड़ित् अणु के अश्वों को, कर आरोहण,
नव मानवता करती गांधी का जय घोषण!
मानव के अन्तरतम शुभ्र तुषार के शिखर
नव्य चेतना मंडित, स्वर्णिम उठे अब निखर!

(१९४८)

भारत गीत

जय जन भारत, जन मन अभिमत
जन गण तंत्र विधाता!
गौरव भाल हिमालय उज्ज्वल
हृदय हार गंगाजल,
कटि विन्ध्यांचल, सिन्धु चरण तल
महिमा शाश्वत गाता!
हरे खेत लहरे नद निर्झर
जीवन शोभा ऊर्वर,
विश्व कर्म रत कोटि बाहु कर
अगणित पद ध्रुव पथ पर!
प्रथम सभ्यता ज्ञाता, साम ध्वनित गुण गाथा,
जय नव मानवता निर्माता,
सत्य अहिंसा दाता!
जय हे, जय हे, जय हे, शान्ति अधिष्ठाता!
प्रयाण तूर्य बज उठे,
पटह तुमुल गरज उठे,
विशाल सत्य सैन्य, लौह भुज उठे!
शक्ति स्वरूपिणि, बहु बल धारिणि, वंदित भारत माता,
धर्म चक्र रक्षित तिरंग ध्वज अपराजित फहराता!
जय हे, जय हे, जय हे, अभय, अजय, त्राता!

(१९४९)

गीत विहग

१. कुछ आलोचक इस कविता पर अरविन्द-दर्शन का प्रभाव मानते हैं। 'ऊर्ध्व' चेतनगगन, दिव्य चेतना आदि ऐसे शब्द हैं जिन्हें प्रयुक्त हुआ देख किसी दर्शन-विशेष के प्रभाव की कल्पना कर लेना हमारे कुछ आलोचकों का स्वभाव सा बन गया है।

२. इस कविता में कवि अपने गीतों को सूर्य का रूप प्रदान कर उन्हें जन-जागरण का सन्देश-वाहक मानता है। यह कविता सन् १९४६ की रचना है। भारतवर्ष पूर्व ही स्वतन्त्र हुआ था। कवि देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति से एक अलौकिक उमंग से भर रहा है। वह स्वयं को जन-जागरण का सन्देश-वाहक मानता है और उसकी यही भावना इस नई उमंग के साथ अभिव्यक्त हो उठी। ऐसा सदैव शुभ का प्रतिनिधित्व

न
जव
युग
मिट्टी
स्वप्नों
तापों की छाया से कलुषित अंतर को
उन्मुक्त प्रकृति का शोभा वक्ष दिखलाता!

जीवन मन के भेदों में खोई मति को
मैं आत्म एकता में अनिमेष जगाता,
तुम पंगु, बहिर्मुख जग में बिखरे मन को
मैं अन्तर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता!
आदर्शों के मरु जल से दग्ध मृगों को
* मैं स्वर्गंगा स्मित अंतर्पथ बतलाता,
जन जन को नव मानवता में जाग्रत कर
मैं मुक्त कंठ जीवन रण शंख बजाता!

एक सौ एक

* तृष्णा के ओ कुछ मानव रूपी मृगों को मैं आकाश गंगा के समान निर्मल, उज्ज्वल आत्मा के पथ को बताता रहता हूँ अर्थात उन्हें संसार के खोखले आदर्शों से मुक्त कर आत्मचारी का मार्ग दिखाता रहता हूँ।

मैं प्रत्येक मनुष्य के हृदय में नई मानवता की भावना जाग्रत करता हूँ।

मैं गीत विहग, निज मर्त्य नीड़ से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलाता,
मैं अपने अंतर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता!
मैं स्वर्दूतों को बाँध मनोभावों में
जन जीवन का नित उनको अंग बनाता,
मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसा कर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता!

मैं जन्म मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता,
मैं दिव्य चेतना का संदेश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का स्वर्ण जागरण गाता!

(१९४९)

निर्माण-काल

लो, आज झरोखों से उड़ कर
फिर देवदूत आते भीतर,
सुरधनुओं के स्मित पंख खोल
नव स्वप्न उतरते जन भू पर!

रँग रँग के छाया पंखों सी
आभा पंखड़ियाँ पड़तीं झर
फिर मनोलहरियों पर तिरतीं,
विम्बित सुर अप्सरियाँ निःस्वर!

यह रे भू का निर्माण काल
हँसता नव जीवन अरुणोदय,
ले रही जन्म नव मानवता
अब खर्व मनुजता होती क्षय!

धू धू कर जलता जीर्ण जगत
लिपटा ज्वाला में जन अंतर,
तम के पर्वत पर टूट रही
विद्युत् प्रपात-सी ज्योति प्रखर!

संघर्षण पर कटु संघर्षण
यह दैविक भौतिक भू कंपन,
उद्वेलित जन मन का समुद्र
युग रक्त जिह्व करता नर्तन!

ढह रहे अंध विश्वास शृंग
युग बदल रहा, यह ब्रह्म अहन्,

फिर शिखर चिरंतन रहे निखर
यह विश्व संचरण रे नूतन!

बज रहे घंटियों से तरुदल
छवि ज्वाल पल्लवित जग जीवन,
नव ज्योति चरण धर रहा सृजन
फिर पुष्प वृष्टि करते सुरगण!

अब स्वर्ण द्रवित रे अंतर्नभ
झरते नीरव शोभा निर्झर;
अवतरित हो रहीं सूक्ष्म शक्ति
फिर मौन गुंजरित उर अंबर!

बँधता प्रकाश तम - बाँहों में
सुर मानव तन करते धारण,
फिर लोक चेतना रंगभूमि
भू स्वर्ग कर रहे परिरंभण?

(१९४९)

युग-दान

जीवन - बाँहों में बाँध सकूँ
सौन्दर्य तुम्हारा नित नूतन,
जन मन में मैं भर सकूँ अमर
संगीत तुम्हारा सुर मादन !

आनंद तुम्हारा बरस सके
भव व्यथा क्लांत उरके भीतर,
जग जीवन का बन सके अंग
देबत्व तुम्हारा लोकोत्तर !

करुणा धारा से मानव का
भू निर्मम अंतर हो उर्वर,
संयुक्त कर्म जग जीवन के
तुमको अर्पित हों उठ ऊपर !

अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त
देवत्व रहा रे शनैः निखर,
भू मन का गोपन स्पृहा स्वर्ग
फिर विचरण करने को भू पर !

यह अंधकार का घोर प्रहर
हो रहा हृदय चेतना द्रवित
फिर मानवीय बन जाग रहीं
जड़ भूत शक्तियाँ अभिशापित !

तरुओं के सिर पर पुष्प मुकुट
ज्यों गंध पवन-उर में मादन,
जीवन से मन से फूट रहे
तुम नव श्री शोभा में चेतन !

(१९४९)

नमन

नमन तुम्हें करता मन !
हे जग के जीवन के जीवन,
प्रीति-मौन प्रति उर स्पन्दन में
स्मरण तुम्हें करता मन !

अश्रु सजल अब मेरा आनन
तुहिन तरल वारिज के लोचन,
यह मानस स्थिति स्मृति से पावन
करता तुम्हें समर्पण !

तुम अंतर के पथ से आओ
चिर श्रद्धा के रथ से आओ,
जीवन अरुणोदय सँग लाओ,
नव प्रभात युग नूतन !

वहे रुधिर में स्वर्गिक पावक
स्वप्न पंख लोचन हों अपलक,
रँग दे श्री शोभा का जावक
जीवन के पग प्रतिक्षण !

आज व्यक्ति के उतरो भीतर
निखिल विश्व में विचरो बाहर,
कर्म वचन मन जन के उठ कर
बनें युक्त आराधन !

असफल हो जब श्रांत मनोबल
आवेशों से अंतर विह्वल,
तुम करुणा-कर से छू उज्ज्वल
जड़ता कर दो चेतन !

(१९४९)

जिज्ञासा

कौन स्रोत ये!
किन आकाशों में खोए
किन आवाक् शिखरों से झरते,
किस प्रशांत समतल प्रदेश में
रजत फेन मुक्ता रव भरते!
ये किन स्वच्छ अतलताओं की
मौन नीलिमाओं में बहते,
किस सुख के स्पर्शों से, स्वर्णिम
हिलकोरों में कँपते रहते।

कौन स्रोत ये!
किरणों के वृत्तों पर खिलते
भावों के सतरँग स्वप्नोत्पल
मनोलहरियों पर बिम्बित कर
रक्त पीत सित नील ज्योति दल!
नामहीन सौरभ में मज्जित
हो उठता उच्छ्वसित दिगंचल,
रहस गुंजरण में लय होता
शब्दहीन तन्मय अंतस्तल!

कौन स्रोत ये!
श्रद्धा औ विश्वास, रुपहले
राज मरालों के-से जोड़े
तिरते सात्विक उर सरसी में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा मोड़े!

शोभा की स्वर्गिक उड़ान से
भर जाता सहसा अपलक मन,
बजते नव छंदों के नूपुर
अलिखित गीतों के प्रिय पद बन!
वह जाते सीमाओं के तट
हर्षों के ज्वारों में अविगत,
लहरा उठता अतल नील से
नाम रूप के ऊपर शाश्वत!
कौन स्रोत ये!

(१९५६)

क्रांति और शांति

इस कविता में मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति कवि की दृढ़ आस्था अभिव्यक्त हुई है। उसे विश्वास है कि वर्तमान विनाश के भीतर भावी उज्ज्वल मानवता का रहस्य छिपा हुआ है। विनाश और सृजन परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। मानवता के वर्तमान विनाशकारी रूप को देख भयंकर रूप से त्रस्त और निराश व्यक्तियों के लिये कवि का यह आशाभरा उद्बोधन अमृत के समान है।

इस कविता में जीवन-मूल्यों में हो रहे नवीन क्रांतिकारी परिवर्तनों की ओर कवि संकेत कर रहा है। आज के इस तीव्र गति से परिवर्तित हो रहे युग में मानव-जीवन के नवीन मूल्यों की स्थापना कर रहा है। वह अपनी गति के अवरोधक प्राचीन का मोह त्याग, नव-मानवता का निर्माण करने में प्रयत्नशील है।

... बोझ से दबा!

जीवन तृष्णा, चक्की के पाटों सी, उसके
घायल पैरों से है लिपट गई, बेड़ी बन!
धृष्ट, निरंकुश, उच्छृंखल नर, आज, शील के
स्वर्णांकुश के प्रति असहिष्णु अहंता शासित!

सोच रहा मैं,—नहीं स्पष्टतः देख रहा मैं,
महत् युगांतर आज उपस्थित मनुज द्वार पर!—
बदल रहे मानव के भौतिक, कायिक, प्राणिक
सूक्ष्म मानसिक स्तर, आध्यात्मिक भुवन अगोचर!
बदल रहा, निःसंशय, मानव ईश्वर भी अब—
युग युग से जो परिचालित करता आया नित

मानव जग को, लोक नियति को, जीवन मन को !
जैवी स्थिति से उच्च भागवत स्थिति तक, सम्प्रति
घूम रहा युग परिवर्तन का चक्र अकुण्ठित !
आज घोर जन कोलाहल के भीतर भी मैं
सुनता हूँ स्वर शब्द हीन संगीत अतंद्रित—
मन के श्रवणों में जो गूँजा करता अविरत !
इस अणु उद्जन के विनाश के दारुण युग में
सृजन निरत हैं सूक्ष्म सूक्ष्मतर अमर शक्तियाँ
मानव के अंतरतम में—जिनका स्वप्नों का
अक्षय वैभव, अतिक्रम कर युग के यथार्थ को,
अकथित शोभा भुवनों में पल्लवित हो रहा,
मानस की अपलक आँखों के सम्मुख प्रतिक्षण !
सूक्ष्म सृजन चल रहा नाश के स्थूल चरण धर !

कवि कपोल कल्पना नहीं—अनुभूत सत्य यह,
घोर भ्रांतियों के युग का निर्भ्रांत सत्य यह,
आरोहण कर रही मनुज चेतना निरंतर
शिखरों से नव शिखरों पर अब, उठती गिरती
संघर्षण करती, कराहती,—चिर अपराजित !
इसीलिए, मैं शांति क्रांति-संहार सृजन को,
विजय पराजय, प्रेम घृणा, उत्थान पतन को,
आशा कुंठा को, युग के सुन्दर कुरूप को,
बाँहों में हूँ आज समेटे,—उन्हें परस्पर
पूरक, एक, अभिन्न मान कर,—युग विवर्त के
क्रंदन किलकारों में ध्यानावस्थित रह कर !
विस्मय क्या, यदि बदल रहा आर्थिक, सामाजिक
धार्मिक, वैयक्तिक मानव ? यदि मनुज चेतना

अब सामूहिक, वर्ग हीन बन रही बाह्यतः,
बिखर रहे यदि विगत युगों के मनः संगठन?—
क्या आश्चर्य, बदलता यदि आमूल मनुज जग!
स्वयं, युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब,
निश्चेतन, उपचेतन, अंतश्चेतन के जग
परिवर्तित हो रहे, नए मूल्यों में विकसित!
उन पर आश्रित निखिल सांस्कृतिक सम्बन्धों का
रूपांतर हो रहा आज,—आवर्त शिखर में
घूम, पुनः जो संयोजित हो रहे धरा पर!
विगत निषेधों, रूढ़ि, वर्जनाओं को सहसा
छिन्न भिन्न कर अपने प्रलयंकर प्रवेग में—
विस्तृत कर जीवन पथ, निःसृत प्राणों का रथ!
नैतिक आध्यात्मिक अतीत संक्रमण कर रहा—
निखर रहे आदर्श लोक, सौंदर्य तत्व नव!
आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा
स्वर्ण रश्मियों से स्मित ऊषाओं के रथ पर
तड़ित् स्फुरित लतिकाओं में लिपटे पर्वत सा,
अगणित सुर वीणाओं के झंकृत निर्झर सा,
उन्मद भृंगों से गुंजित नव कुसुमाकर सा!

भरते शत सीत्कार आज बाहर गत पतझर,
सुलग रहा भीतर नव मधु का स्वर्गिक पावक!
आत्मा के गोपनतम अंतर में प्रवेश कर
मानव मन, हो अधिक पूर्ण, खुल रहा बहिर्मुख!
आज नाश के कर गढ़ रहे नवल मानव को,
नव इंद्रिय वह, विकसित इंद्रिय, अति इंद्रिय अब!
बदल रहा अब मानव ईश्वर,—बदल रहा अब
मानव अंतर, मानवता का रूपांतर कर!

(१९५६)

यह धरती कितना देती है

मैंने छुटपन में छिपकर पैसे बोए थे,
सोचा था, पैसों के प्यारे पेड़ उगेंगे,
रुपयों की कलदार मधुर फसलें खनकेंगी,
और, फूल फल कर, मैं मोटा सेठ बनूँगा!
पर, बंजर धरती में एक न अंकुर फूटा,
बंध्या मिट्टी ने न एक भी पैसा उगला—
सपने जाने कहाँ मिटे, कब धूल हो गए!
मैं हताश हो, बाट जोहता रहा दिनों तक
बाल कल्पना के अपलक पाँवड़े बिछा कर!
मैं अबोध था, मैंने ग़लत बीज बोए थे,
ममता को रोपा था, तृष्णा को सींचा था!

अर्धशती हहराती निकल गई है तब से!
कितने ही मधु पतझर बीत गए अनजाने,
ग्रीष्म तपे, वर्षा झूलीं, शरदें मुसकाईं,
सी सी कर हेमंत कँपे, तरु झरे, खिले वन!
औ जब फिर से गाढ़ी ऊदी लालसा लिये
गहरे कजरारे बादल बरसे धरती पर,
मैंने, कौतूहल वश, आँगन के कोने की
गीली तह को यों ही उँगली से सहलाकर
बीज सेम के दबा दिए मिट्टी के नीचे!—
भू के अंचल में मणि माणिक बाँध दिए हों!
मैं फिर भूल गया इस छोटी सी घटना को,
और बात भी क्या थी, याद जिसे रखता मन!
किन्तु, एक दिन, जब मैं संध्या को आँगन में

टहल रहा था – तब सहसा मैंने जो देखा
उससे हर्ष विमूढ़ हो उठा मैं विस्मय से!

देखा, आँगन के कोने में कई नवागत,
छोटा छोटा, छाता ताने खड़े हुए हैं!
छाता कहूँ कि विजय-पताकाएँ जीवन की,
या हथेलियाँ खोले थे वे नन्हीं, प्यारी–
जो भी हो, वे हरे हरे उल्लास से भरे
पंख मार कर उड़ने को उत्सुक लगते थे–
डिम्ब तोड़ कर निकले चिड़ियों के बच्चों-से!
निर्निमेष क्षण भर, मैं उनको रहा देखता–
सहसा मुझे स्मरण हो आया––कुछ दिन पहले
बीज सेम के रोपे थे मैंने आँगन में,
और उन्हीं से बौने पौधों की यह पलटन
मेरी आँखों के सम्मुख अब खड़ी गर्व से
नन्हें नाटे पैर पटक, बढ़ती जाती है!

तब से उनको देखता रहा––धीरे धीरे
अनगिनती पत्तों से लद, भर गईं झाड़ियाँ,
हरे भरे टँग गए कई मखमली चँदोवे!
बेलें फैल गईं बल खा, आँगन में लहरा––
और सहारा लेकर बाड़े की टट्टी का
हरे हरे सौ झरने फूट पड़े ऊपर को,–
मैं आवाक् रह गया वंश कैसे बढ़ता है!
छोटे तारों-से छितरे, फूलों के छींटे
झागों - से लिपटे लहरीं श्यामल लतरों पर
सुन्दर लगते थे, मावस के हँसमुख नभ - से,
चोटी के मोती-से आँचल के बूँटों - से!

ओह, समय पर उनमें कितनी फलियाँ टूटीं !
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ–
पतली चौड़ी फलियाँ ! उफ, उनकी क्या गिनती !
लम्बी लम्बी अंगुलियों-सी, नन्हीं नन्हीं
तलवारों-सी, पन्ने के प्यारे हारों-सी
झूठ न समझें चन्द्र-कलाओं-सी नित बढ़तीं
सच्चे मोती की लड़ियों-सी, ढेर ढेर खिल,
झुंड झुंड झिलमिल कर कचपचिया तारों-सी !
आः, इतनी फलियाँ टूटीं, जाड़ों भर खाईं
सुबह शाम वे घर घर पकीं, पड़ोस पास के
जाने अनजाने सब लोगों में बँटवाईं,
बन्धु बांधवों, मित्रों, अभ्यागत, मँगतों ने
जी भर भर दिन रात मुहल्ले भर ने खाईं–
कितनी सारी फलियाँ, कितनी प्यारी फलियाँ !

यह धरती कितना देती है ! धरती माता
कितना देती है अपने प्यारे पुत्रों को !
नहीं समझ पाया था मैं उसके महत्व को–
बचपन में, छिः, स्वार्थ लोभ वश पैसे बोकर !
रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ !

इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
इसमें मानव-ममता के दाने बोने हैं
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फसलें
मानवता की—जीवन श्रम से हंसें दिशाएँ ! –
हम जैसा बोएँगे वैसा ही पाएँगे !
(१९५६)

अनुक्रमणिका



आधुनिक कवि

२

सुमित्रानंदन पंत



२०१५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग